प्रेरणा

और अन्य कहानियाँ

प्रेरणा

मेरी कक्षा में सूर्यप्रकाश से ज्यादा ऊधमी कोई लड़का न था ; बल्कि यों कहो कि अध्यापन-काल के दस वर्षों में मुझे ऐसी विषम प्रकृति के शिष्य से साबका न पड़ा था। कपट-क्रीड़ा में उसकी जान बसती थी। अध्यापकों को बनाने और चिढ़ाने, उद्योगी बालकों को छेड़ने और रुलाने में ही उसे आनन्द आता था। ऐसे-ऐसे षड्यंत्र रचता, ऐसे-ऐसे फन्दे डालता, ऐसे-ऐसे बाँधनू बाँधता कि देखकर आश्चर्य होता था। गरोहबन्दी में अभ्यस्त था। खुदाई फ़ौजदारों की एक फ़ौज बना ली थी और उसके आतंक से शाला पर शासन करता था। मुख्य अधिष्ठाता की आज्ञा टल जाय ; मगर क्या मजाल कि कोई उसके हुक्म की अवज्ञा कर सके। स्कूल के चपरासी और अर्दली उससे थर-थर काँपते थे। इन्सपेक्टर का मुआइना होनेवाला था, मुख्य अधिष्ठाता ने हुक्म दिया कि लड़के निर्दिष्ट समय से आध घंटा पहले आ जायँ। मतलब यह था कि लड़कों को मुआइने के बारे में कुछ जरूरी बातें बता दी जायँ ; मगर दस बज गये, इन्स्पेक्टर साहब आकर बैठ गये, और मदरसे में एक लड़का भी नहीं! ग्यारह बजे सब छात्र इस तरह निकल पड़े, जैसे कोई पिंजरा खोल दिया गया हो। इन्स्पेक्टर

साहब ने कैफियत में लिखा—डिसिप्लिन बहुत ख़राब है। प्रिन्सिपल साहब की किरकिरी हुई, अध्यापक बदनाम हुए, और यह सारी शरारत सूर्यप्रकाश की थी; मगर बहुत पूछ-ताछ करने पर भी किसी ने सूर्यप्रकाश का नाम तक न लिया। मुझे अपनी संचालन-विधि पर गर्व था। ट्रेनिंग कालेज में इस विषय में मैंने ख्याति प्राप्त की थी; मगर यहाँ मेरा सारा संचालन-कौशल जैसे मोर्चा खा गया था। कुछ अक्ल ही काम न करती कि इस शैतान को कैसे सन्मार्ग पर लायें। कई बार अध्यापकों की बैठक हुई; पर यह गिरह न खुली। नई शिक्षा-विधि के अनुसार मैं दंडनीति का पक्षपाती न था; मगर यहाँ हम इस नीति से केवल इसलिए विरक्त थे कि कहीं उपचार रोग से भी असाध्य न हो जाय। सूर्यप्रकाश को स्कूल से निकाल देने का प्रस्ताव भी किया गया; पर इसे अपनी अयोग्यता का प्रमाण समझकर हम इस नीति के व्यवहार करने का साहस न कर सके। बीस-बाईस अनुभवी और शिक्षण-शास्त्र के आचार्य एक बारह-तेरह साल के उद्दंड बालक का सुधार न कर सकें, यह विचार बहुत ही निराशाजनक था। यों तो सारा स्कूल उससे त्राहि-त्राहि करता था; मगर सबसे ज्यादा संकट में मैं था; क्योंकि वह मेरी कक्षा का छात्र था, और उसकी शरारतों का कुफल मुझे भोगना पड़ता था। मैं स्कूल आता, तो हरदम यही खटका लगा रहता था कि देखें आज क्या विपत्ति आती है। एक दिन मैंने अपनी मेज़ की दराज़ खोली, तो उसमें से एक बड़ा-सा मेंढक निकल पड़ा। मैं चौंककर पीछे [illegible], तो क्लास में एक शोर

मच गया। उसकी ओर सरोष नेत्रों से देखकर रह गया। सारा घंटा उपदेश में बीत गया और वह पट्ठा सिर झुकाये नीचे मुसकरा रहा था। मुझे आश्चर्य होता था कि वह नीचे की कक्षाओं में कैसे पास हुआ था। एक दिन मैंने गुस्से से कहा—'तुम इस कक्षा से उम्र भर नहीं पास हो सकते।' सूर्यप्रकाश ने अविचलित भाव से कहा—'आप मेरे पास होने की चिन्ता न करें। मैं हमेशा पास हुआ हूँ और अब की भी हूँगा।'

'असम्भव।'

'असम्भव सम्भव हो जायगा!'

मैं साश्चर्य उसका मुँह देखने लगा। ज़हीन-से-ज़हीन लड़का भी अपनी सफलता का दावा इतने निर्विवादरूप से न कर सकता था। मैंने सोचा, यह प्रश्न-पत्र उड़ा लेता होगा। मैंने प्रतिज्ञा की, अबकी इसकी एक चाल भी न चलने दूँगा। देखूँ, कितने दिन इस कक्षा में पड़ा रहता है। आप घबराकर निकल जायगा।

वार्षिक परीक्षा के अवसर पर मैंने असाधारण देख-भाल से काम लिया; मगर जब सूर्यप्रकाश का उत्तर-पत्र देखा, तो मेरे विस्मय की सीमा न रही। मेरे दो पर्चे थे, दोनों ही में उसके नम्बर कक्षा में सबसे अधिक थे। मुझे खूब मालूम था कि वह मेरे किसी पर्चे का कोई प्रश्न भी हल नहीं कर सकता। मैं इसे सिद्ध कर सकता था; मगर उसके उत्तर-पत्रों को क्या करता! लिपि में इतना भेद न था, जो कोई सन्देह उत्पन्न कर सकता। मैंने प्रिन्सिपल से कहा, तो वह भी चकरा गये; मगर उन्हें भी जान-बूझकर मक्खी निगलनी

पड़ी। मैं कदाचित् स्वभाव ही से निराशावादी हूँ। अन्य अध्यापकों को मैं सूर्यप्रकाश के विषय में ज़रा भी चिन्तित न पाता था। मानों ऐसे लड़कों का स्कूल में आना कोई नई बात नहीं; मगर मेरे लिए वह एक विकट रहस्य था। अगर उसके यही ढंग रहे, तो एक दिन या तो जेल में होगा, या पागलखाने में।

(२)

उसी साल मेरा तबादला हो गया। यद्यपि यहाँ का जलवायु मेरे अनुकूल था, प्रिंसिपल और अन्य अध्यापकों से मैत्री हो गई थी; मगर मैं अपने तबादले से खुश हुआ; क्योंकि सूर्यप्रकाश मेरे मार्ग का काँटा न रहेगा। लड़कों ने मुझे बिदाई की दावत दी, और सब-के-सब मुझे स्टेशन तक पहुँचाने आये। उस वक्त सभी लड़के आँखों में आँसू भरे हुए थे। मैं भी अपने आँसुओं को न रोक सका। सहसा मेरी निगाह सूर्यप्रकाश पर पड़ी, जो सबसे पीछे लज्जित खड़ा था। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि उसकी आँखें भी भीजीं थीं। मेरा जी बार-बार चाहता था कि चलते-चलाते उससे दो-चार बातें करलूँ। शायद वह भी मुझसे कुछ कहना चाहता था; मगर न मैंने पहले बातें कीं, न उसने। हालाँकि मुझे बहुत दिनों तक इसका खेद रहा। उसकी झिझक तो क्षमा के योग्य थी; पर मेरा अवरोध अक्षम्य था। सम्भव था, उस करुणा और ग्लानि की दशा में मेरी दो-चार निष्कपट बातें उसके दिलपर असर कर जातीं; मगर इन्हीं खोये हुए अवसरों का नाम तो जीवन है। गाड़ी मंदगति से चली। लड़के कई क़दम

तक उसके साथ दौड़े। मैं खिड़की के बाहर सिर निकाले खड़ा था। कुछ देर तक मुझे उनके हिलते हुए रूमाल नज़र आये। फिर वह रेखाएँ आकाश में विलीन हो गईं; मगर एक अल्पकाय मूर्ति अब भी प्लेटफार्म पर खड़ी थी। मैंने अनुमान किया, वह सूर्यप्रकाश है। उस समय मेरा हृदय किसी विकल कैदी की भाँति घृणा, मालिन्य और उदासीनता के बंधनों को तोड़-तोड़कर उससे गले मिलने के लिए तड़प उठा।

नये स्थान की नई चिंताओं ने बहुत जल्द मुझे अपनी ओर आकर्षित कर लिया। पिछले दिनों की याद एक हसरत बनकर रह गई। न किसी का कोई खत आया, न मैंने कोई खत लिखा। शायद दुनिया का यही दस्तूर है। वर्षों के बाद वर्षा की हरियाली कितने दिनों रहती है। सयोग से मुझे इंग्लैण्ड में विद्याभ्यास करने का अवसर मिल गया। वहाँ तीन साल लग गये। वहाँ से लौटा, तो एक कालेज का प्रिंसिपल बना दिया गया। यह सिद्धि मेरे लिए बिलकुल आशातीत थी। मेरी भावना स्वप्न में भी इतनी दूर न उड़ी थी; किन्तु पद-लिप्सा अब किसी और भी ऊँची डाली पर आश्रय लेना चाहती थी। शिक्षा-मंत्री से रब्त-ज़ब्त पैदा किया। मन्त्री महोदय मुझ पर कृपा रखते थे; मगर वास्तव में शिक्षा के मौलिक सिद्धान्तों का उन्हें ज्ञान न था। मुझे पाकर उन्होंने सारा भार मेरे ऊपर डाल दिया। घोड़े पर सवार वह थे, लगाम मेरे हाथ में थी। फल यह हुआ कि उनके राजनैतिक विपक्षियों से मेरा विरोध हो गया। मुझ पर जा-बेजा आक्रमण होने लगे। मैं

सिद्धान्त-रूप से अनिवार्य शिक्षा का विरोधी हूँ। मेरा विचार है कि हर एक मनुष्य को उन विषयों में ज्यादा-से-ज्यादा स्वाधीनता होनी चाहिए, जिनका उससे निजका सम्बन्ध है। मेरा विचार है, कि यूरोप में अनिवार्य शिक्षा की ज़रूरत है, भारत में नहीं। भौतिकता, पश्चिमी सभ्यता का मूल तत्व है। वहाँ किसी काम की प्रेरणा, आर्थिक लाभ के आधार पर होती है। जिन्दगी की ज़रूरतें ज्यादा हैं; इसलिए जीवन-संग्राम भी अधिक भीषण है। माता-पिता भोग के दास होकर बच्चों को जल्द-से-जल्द कुछ कमाने पर मज़बूर करते हैं। इसकी जगह कि वह मद का त्याग कर के एक शिलिंग रोज की बचत कर लें, वे अपने कमसिन बच्चे को एक शिलिंग की मज़दूरी करने के लिए दबायेंगे। भारतीय जीवन में सात्विक सरलता है। हम उस वक्त तक अपने बच्चों से मजदूरी नहीं कराते, जब तक कि परिस्थिति हमें विवश न कर दे। दरिद्र-से-दरिद्र हिन्दुस्तानी मज़दूर भी शिक्षा के उपकारों का कायल है। उसके मनमें यही अभिलाषा होती है, कि मेरा बच्चा चार अक्षर पढ़ जाय। इसलिए नहीं कि उसे कोई अधिकार मिलेगा; बल्कि केवल इसलिए कि विद्या मानवी शील का एक शृङ्गार है। अगर यह जानकर भी वह अपने बच्चे को मदरसे नहीं भेजता, तो समझ लेना चाहिए, कि वह मज़बूर है। ऐसी दशा में उस पर कानून का प्रहार करना मेरी दृष्टि में न्याय-संगत नहीं। इसके सिवाय मेरे विचार में अभी हमारे देश में योग्य शिक्षकों का अभाव है। अर्द्धशिक्षित और अल्प वेतन पानेवाले अध्यापकों से आप यह आशा नहीं रख

सकते कि वह कोई ऊँचा आदर्श अपने सामने रख सकें। अधिक-से-अधिक इतना ही होगा, कि चार-पाँच वर्ष में बालक को अक्षर ज्ञान हो जायगा। मैं इसे पर्वत खोदकर चुहिया निकालने के तुल्य समझता हूँ। वयस प्राप्त हो जाने पर यह मरहला एक महीने में आसानी से तय किया जा सकता है। मैं अनुभव से कह सकता हूँ कि युवावस्था में हम जितना ज्ञान एक महीने में प्राप्त कर सकते हैं, उतना बाल्यावस्था में तीन साल में भी नहीं कर सकते, फिर खामख्वाह बच्चों को मदरसे में कैद करने से क्या लाभ। मदरसे के बाहर रहकर उसे स्वच्छ वायु तो मिलती, प्राकृतिक अनुभव तो होते। पाठशाला में बन्द करके तो आप उसके मानसिक और शारीरिक दोनों विधानों की जड़ काट देते हैं; इसलिए जब प्रान्तीय व्यवस्थापक सभा में अनिवार्य शिक्षा का प्रस्ताव पेश हुआ, तो मेरी प्रेरणा से मिनिस्टर साहब ने उसका विरोध किया। नतीजा यह हुआ कि प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया। फिर क्या था। मिनिस्टर साहब की और मेरी वह ले-दे शुरू हुई कि कुछ न पूछिये। व्यक्तिगत आक्षेप किये जाने लगे। मैं गरीब की बीबी था, मुझे ही सबकी भाबी बनना पड़ा। मुझे देश-द्रोही, उन्नति का शत्रु और नौकरशाही का गुलाम कहा गया। मेरे कालेज में ज़रा-सी भी कोई बात होती तो कौंसिल में मुझ पर प्रश्नों की वर्षा होने लगती। मैंने एक चपरासी को पृथक किया। सारी कौंसिल पंजे झाड़कर मेरे पीछे पड़ गई। आख़िर मिनिस्टर को मजबूर होकर उस चपरासी को बहाल करना पड़ा। यह अपमान मेरे लिए असह्य था। शायद कोई भी

इसे सहन न कर सकता। मिनिस्टर साहब से मुझे शिकायत नहीं। वह मजबूर थे। हाँ, इस वातावरण में काम करना मेरे लिए दुस्साध्य हो गया। मुझे अपने कालेज के आन्तरिक संगठन का भी अधिकार नहीं। अमुक क्यों नहीं परिक्षा में भेजा गया, अमुक के बदले अमुक को क्यों नहीं छात्रवृत्ति दी गई, अमुक अध्यापक को अमुक कक्षा क्यों नहीं दी जाती, इस तरह के सारहीन आक्षेपों ने मेरा नाक में दम कर दिया था। इस नई चोटने कमर तोड़ दी। मैंने इस्तीफा दे दिया।

मुझे मिनिस्टर साहब से इतनी आशा अवश्य थी कि वह कम-से-कम इस विषय में न्याय-परायणता से काम लेंगे; मगर उन्होंने न्याय की जगह नीति को मान्य समझा, और मुझे कई साल की भक्ति का यह फल मिला कि मैं पदच्युत कर दिया गया। संसार का ऐसा कटु अनुभव मुझे अब तक न हुआ था। ग्रह भी कुछ बुरे आ गये थे, उन्हीं दिनों पत्नी का देहान्त हो गया। अन्तिम दर्शन भी न कर सका। संध्या-समय नदी तट पर सैर करने गया था। वह कुछ अस्वस्थ थीं। लौटा, तो उनकी लाश मिली। कदाचित् हृदय की गति बन्द हो गई थी। इस आघात ने कमर तोड़ दी। माता के प्रसाद और आशीर्वाद से बड़े-बड़े महान् पुरुष कृतार्थ हो गये हैं। मैं जो कुछ हुआ, पत्नी के प्रसाद और आशीर्वाद से हुआ। वह मेरे भाग्य की विधात्री थीं। कितना अलौकिक त्याग था, कितना विशाल धैर्य। उनके माधुर्य में तीक्ष्णता का नाम भी न था। मुझे याद नहीं आता कि मैंने कभी

उनकी भृकुटि संकुचित देखी हो। निराश होना, तो जानती ही न थीं। मैं कई बार सख्त बीमार पड़ा हूँ। वैद्य भी निराश हो गये हैं; पर वह अपने धैर्य और शान्ति से अणुमात्र भी विचलित नहीं हुईं। उन्हें विश्वास था कि मैं अपने पति के जीवनकाल में मरूँगी और वही हुआ भी। मैं जीवन में अब तक उन्हीं के सहारे खड़ा था। जब वह अवलम्ब ही न रहा, तो जीवन कहाँ रहता। खाने और सोने का नाम जीवन नहीं है। जीवन नाम है, सदैव आगे बढ़ते रहने की लगन का। वह लगन ग़ायब हो गई। मैं संसार से विरक्त हो गया। और एकान्तवास में जीवन के दिन व्यतीत करने का निश्चय करके एक छोटे-से गाँव में जा बसा। चारों तरफ ऊँचे-ऊँचे टीले थे, एक ओर गंगा बहती थी। मैंने नदी के किनारे एक छोटा-सा घर बना लिया और उसीमें रहने लगा।

(३)

मगर काम करना तो मानवी स्वभाव है। बेकारी में जीवन कैसे कटता। मैंने एक छोटी-सी पाठशाला खोल ली। एक वृक्ष की छाँह में, गाँव के लड़कों को जमा कर कुछ पढ़ाया करता था। उसकी यहाँ इतनी ख्याति हुई कि आस-पास के गाँव के छात्र भी आने लगे।

एक दिन मैं अपनी कक्षा को पढ़ा रहा था कि पाठशाला के पास एक मोटर आकर रुकी और उसमें से उस जिले के डिप्टी कमिश्नर उतर पड़े। मैं उस समय केवल एक कुर्ता और धोती पहने हुए था। इस वेष में एक हाकिम से मिलते हुए शर्म आ

रही थी। डिप्टीकमिश्नर मेरे समीप आये, तो मैंने झेंपते हुए हाथ बढ़ाया; मगर वह मुझसे हाथ मिलाने के बदले मेरे पैरों की ओर झुके और उन पर सिर रख दिया। मैं कुछ ऐसा सिटपिटा गया कि मेरे मुँह से एक शब्द भी न निकला। मैं अंगरेजी अच्छी लिखता हूँ, दर्शनशास्त्र का भी आचार्य हूँ, व्याख्यान भी अच्छे दे लेता हूँ; मगर इन गुणों में एक भी श्रद्धा के योग्य नहीं। श्रद्धा तो ज्ञानियों और साधुओं ही के अधिकार की वस्तु है। अगर मैं ब्राह्मण होता, तो एक बात थी। हालाँ कि एक सिविलियन का किसी ब्राह्मण के पैरों पर सिर रखना अचिन्तनीय है।

मैं अभी इसी विस्मय में पड़ा हुआ था कि डिप्टी कमिश्नर ने सिर उठाया और मेरी तरफ देखकर कहा—'आपने शायद मुझे पहचाना नहीं।'

इतना सुनते ही मेरे स्मृति-नेत्र खुल गये, बोला—'आपका नाम सूर्यप्रकाश तो नहीं है?'

'जी हाँ, मैं आपका वही अभागा शिष्य हूँ।'

'बारह-तेरह वर्ष हो गये!'

सूर्यप्रकाश ने मुसकरा कर कहा—'अध्यापक लड़कों को भूल जाते हैं; पर लड़के उन्हें हमेशा याद रखते हैं।'

मैंने उसी विनोद के भाव से कहा—'तुम जैसे लड़कों को भूलना असम्भव है।'

सूर्यप्रकाश ने विनीत स्वर में कहा—'उन्हीं अपराधों को क्षमा कराने के लिए सेवा में आया हूँ। मैं सदैव आपकी खबर लेता

रहता था। जब आप इंगलैण्ड गये, तो मैंने आपके लिए बधाई का पत्र लिखा; पर उसे भेज न सका। जब आप प्रिंसिपल हुए, मैं इंग्लैण्ड जाने को तैयार था। वहाँ मैं पत्रिकाओं में आपके लेख पढ़ता रहता था। जब लौटा, तो मालूम हुआ कि आपने इस्तीफा दे दिया और कहीं देहात में चले गये हैं। इस ज़िले में आये हुए मुझे एक वर्ष से अधिक हुआ; पर इसका ज़रा भी अनुमान न था कि आप यहाँ एकान्त सेवन कर रहे हैं। इस ऊजड़ गाँव में आपका जी कैसे लगता है? इतनी ही अवस्था में आपने वानप्रस्थ ले लिया?'

मैं नहीं कह सकता कि सूर्यप्रकाश की उन्नति देखकर मुझे कितना आश्चर्यमय आनन्द हुआ। अगर वह मेरा पुत्र होता, तो भी इससे अधिक आनन्द न होता। मैं उसे अपने झोंपड़े में लाया और अपनी रामकहानी कह सुनाई।

सूर्यप्रकाश ने कहा—'तो यह कहिये कि आप अपने ही एक भाई के विश्वासघात का शिकार हुए। मेरा अनुभव तो अभी बहुत कम है; मगर इतने ही दिनों में मुझे मालूम हो गया है, कि हम लोग अभी अपनी जिम्मेदारियों को पूरा करना नहीं जानते। मिनिस्टर साहब से भेंट हुई, तो पूछूँगा, कि यही आपका धर्म था?'

मैंने जवाब दिया—'भाई, उनका कोई दोष नहीं। सम्भव है, इस दशा में मैं भी वही करता, जो उन्होंने किया। मुझे अपनी स्वार्थ-लिप्सा की सज़ा मिल गई, और उसके लिए मैं उनका ऋणी हूँ। बनावट नहीं, सत्य कहता हूँ कि यहाँ मुझे जो शान्ति है, वह

और कहीं न थी। इस एकान्त-जीवन में मुझे जीवन के तत्वों का वह ज्ञान हुआ, जो सम्पत्ति और अधिकार की दौड़ में किसी तरह सम्भव न था। इतिहास और भूगोल के पोथे चाटकर और यूरप के विद्यालयों की शरण जाकर भी मैं अपनी ममता को न मिटा सका; बल्कि यह रोग दिन-दिन और भी असाध्य होता जाता था। आप सिढ़ियों पर पाँव रखे बगैर छत की ऊँचाई तक नहीं पहुँच सकते। सम्पत्ति की अट्टालिका तक पहुँचने में दूसरों की जिन्दगी ही जीनों का काम देती है। आप उन्हे कुचलकर ही लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। वहाँ सौजन्य और सहानुभूति का स्थान ही नहीं। मुझे ऐसा मालूम होता है कि उस वक्त मैं हिंस्र जन्तुओं से घिरा हुआ था और मेरी सारी शक्तियाँ अपनी आत्मरक्षा में ही लगी रहती थीं। यहाँ मैं अपने चारों ओर सन्तोष और सरलता देखता हूँ। मेरे पास जो लोग आते हैं, कोई स्वार्थ लेकर नहीं आते और न मेरी सेवाओं में प्रशंसा या गौरव की लालसा है।'

यह कहकर मैंने सूर्यप्रकाश के चेहरे की ओर ग़ौर से देखा। कपट मुसकान की जगह ग्लानि का रंग था। शायद यह दिखाने आया था कि आप जिसकी तरफ़ से इतने निराश हो गये थे, वह अब इस पद को सुशोभित कर रहा है। वह मुझसे अपने सदुद्योग का बखान चाहता था। मुझे अब अपनी भूल मालूम हुई। एक सम्पन्न आदमी के सामने समृद्धि की निन्दा उचित नहीं। मैंने तुरन्त बात पलटकर कहा—'मगर तुम अपना हाल तो कहो। तुम्हारी यह काया-पलट कैसे हुई। तुम्हारी शरारतों को याद

करता हूँ तो अब भी रोएँ खड़े हो जाते हैं। किसी देवता के वरदान के सिवा और तो कहीं यह विभूति न प्राप्त हो सकती थी।'

सूर्यप्रकाश ने मुसकराकर कहा—'आपका आशीर्वाद था।'

मेरे बहुत आग्रह करने पर सूर्यप्रकाश ने अपना वृत्तांत सुनाना शुरू किया—

'आपके चले आने के कई दिन बाद मेरा ममेरा भाई स्कूल में दाखिल हुआ। उसकी उम्र आठ-नौ साल से ज्यादा न थी। प्रिंसिपल साहब उसे होस्टल में न लेते थे और न मामा साहब उसके ठहरने का प्रबन्ध कर सकते थे। उन्हें इस संकट में देखकर मैंने प्रिंसिपल साहब से कहा—उसे मेरे कमरे में ठहरा दीजिये। प्रिंसिपल साहब ने इसे नियम विरुद्ध बतलाया। इस पर मैंने बिगड़कर उसी दिन होस्टल छोड़ दिया, और एक किराये का मकान लेकर मोहन के साथ रहने लगा। उसकी मा कई साल पहले मर चुकी थी। इतना दुबला-पतला, कमजोर और ग़रीब लड़का था कि पहले ही दिन से मुझे उस पर दया आने लगी। कभी उसके सिर में दर्द होता, कभी ज्वर हो आता। आये दिन कोई-न-कोई बीमारी खड़ी रहती थी। इधर साँझ हुई और उसे झपकियाँ आने लगीं। बड़ी मुश्किल से भोजन करने उठता। दिन चढ़े तक सोया करता और जब तक मैं गोद में उठाकर बिठा न देता, उठने का नाम न लेता। रात को बहुधा चौंककर मेरी चारपाई पर आ जाता और मेरे गले से लिपटकर सोता। मुझे उस पर कभी क्रोध न आता। कह नहीं सकता, क्यों मुझे उससे प्रेम हो गया। मैं जहाँ

पहले नौ बजे सोकर उठता था, अब तड़के उठ बैठता और उसके लिए दूध गर्म करता। फिर उसे उठाकर हाथ-मुँह धुलाता और नाश्ता कराता। उसके स्वास्थ्य के विचार से नित्य वायु सेवन को ले जाता। मैं, जो कभी किताब लेकर न बैठता था, उसे घंटों पढ़ाया करता। मुझे अपने दायित्व का इतना ज्ञान कैसे हो गया, इसका मुझे आश्चर्य है। उसे कोई शिकायत हो जाती, तो मेरे प्राण नखों में समा जाते। डाक्टर के पास दौड़ता, दवाएँ लाता और मोहन की खुशामद करके दवा पिलाता। सदैव यह चिन्ता लगी रहती थी, कि कोई बात उसकी इच्छा के विरुद्ध न हो जाय। इस बेचारे का यहाँ मेरे सिवा दूसरा कौन है। मेरे चंचल मित्रों में से कोई उसे चिढ़ाता या छेड़ता, तो मेरी त्योरियाँ बदल जाती थीं। कई लड़के तो मुझे बूढ़ी दाई कहकर चिढ़ाते थे; पर मैं हँसकर टाल देता था। मैं उसके सामने एक अनुचित शब्द भी मुँह से न निकालता। यह शंका होती थी, कि कहीं मेरी देखा-देखी यह भी ख़राब न हो जाय। मैं उसके सामने इस तरह रहना चाहता था, कि वह मुझे अपना आदर्श समझे और इसके लिए यह मानी हुई बात थी कि मैं अपना चरित्र सुधारूँ। वह मेरा नौ बजे सोकर उठना, बारह बजे तक मटरगश्ती करना, नई-नई शरारतों के मन्सूबे बाँधना और अध्यापकों की आँख बचाकर स्कूल से उड़ जाना, सब आप-ही-आप जाता रहा। स्वास्थ्य और चरित्र-पालन के सिद्धान्तों का मैं शत्रु था; पर अब मुझसे बढ़कर उन नियमों का रक्षक दूसरा न था। मैं ईश्वर का उपहास किया करता था,

मगर अब पक्का आस्तिक हो गया था। वह बड़े सरल भाव से पूछता, परमात्मा सब जगह रहते हैं, तो मेरे पास भी रहते होंगे। इस प्रश्न का मजाक उड़ाना मेरे लिए असम्भव था। मैं कहता—हाँ, परमात्मा तुम्हारे, हमारे सबके पास रहते हैं और हमारी रक्षा करते हैं। यह आश्वासन पाकर उसका चेहरा आनन्द से खिल उठता था। कदाचित् वह परमात्मा की सत्ता का अनुभव करने लगता था। साल ही भर में मोहन कुछ-से-कुछ हो गया। मामा साहब दोबारा आये, तो उसे देखकर चकित हो गये। आँखों में आँसू भरकर बोले—बेटा! तुमने इसको जिला लिया, नहीं तो मैं निराश हो चुका था। इसका पुनीत फल तुम्हें ईश्वर देंगे। इसकी माँ स्वर्ग में बैठी हुई तुम्हें आशीर्वाद दे रही है।

सूर्यप्रकाश की आँखें उस वक्त भी सजल हो गई थीं।

मैंने पूछा—'मोहन भी तुम्हें बहुत प्यार करता होगा?'

सूर्यप्रकाश के सजल नेत्रों में हसरत से भरा हुआ आनन्द चमक उठा, बोला—'वह मुझे एक मिनट के लिए भी न छोड़ता था। मेरे साथ बैठता, मेरे साथ खाता, मेरे साथ सोता। मैं ही उसका सब कुछ था। आह! वही संसार में नहीं है। मगर मेरे लिए वह अब भी उसी तरह जीता-जागता है। मैं जो कुछ हूँ, उसी का बनाया हुआ हूँ। अगर वह दैवी विधान की भाँति मेरा पथ प्रदर्शक न बन जाता, तो शायद आज मैं किसी जेल में पड़ा होता। एक दिन मैंने कह दिया था—अगर तुम रोज नहा न लिया करोगे, तो मैं तुमसे न बोलूँगा। नहाने से वह न जाने क्यों जी चुराता

था। मेरी इस धमकी का फल यह हुआ कि वह नित्य प्रातःकाल नहाने लगा। कितनी ही सर्दी क्यों न हो, कितनी ठंडी हवा चले; लेकिन वह स्नान अवश्य करता था। देखता रहता था, मैं किस बात से खुश होता हूँ। एक दिन मैं कई मित्रों के साथ थियेटर देखने चला गया, ताकीद कर गया था कि तुम खाना खाकर सो रहना। तीन बजे रात को लौटा, तो देखा कि वह बैठा हुआ है। मैंने पूछा—तुम सोये नहीं ? बोला—नींद नहीं आई। उस दिन से मैंने थियेटर जाने का नाम न लिया। बच्चों में प्यार की जो एक भूख होती है—दूध, मिठाई और खिलौनों से भी ज्यादा मादक—जो माँकी गोद के सामने संसार के निधि की भी परवाह नहीं करते, मोहन की वह भूख कभी संतुष्ट न होती थी। पहाड़ों से टकरानेवाली सारस की आवाज की तरह वह सदैव उसके नसों में गूँजा करती थीं। जैसे, भूमि पर फैली हुई लता कोई सहारा पातेही उससे चिपट जाती है, वही हाल मोहन का था। वह मुझसे ऐसा चिपट गया था कि पृथक् किया जाता, तो उसकी कोमल बेलि के टुकड़े-टुकड़े हो जाते। वह मेरे साथ तीन साल रहा और तब मेरे जीवन में प्रकाश की एक रेखा-सी डालकर अन्धकार में विलीन हो गया। उस जीर्ण काया में कैसे-कैसे अरमान भरे हुए थे। कदाचित् ईश्वर ने मेरे जीवन में एक अवलम्ब की सृष्टि करने के लिए उसे भेजा था। उद्देश्य पूरा हो गया, तो वह क्यों रहता।'

(४)

गर्मियों की तातील थी। दो तातीलों में मोहन मेरे ही साथ

रहा था। मामाजी के आग्रह करने पर भी घर न गया। अबकी कालेज के छात्रों ने काश्मीर-यात्रा करने का निश्चय किया और मुझे उसका अध्यक्ष बनाया। काश्मीर-यात्रा की अभिलाषा मुझे चिरकाल से थी। इस अवसर को ग़नीमत समझा। मोहन को मामाजी के पास भेजकर मैं काश्मीर चला गया। दो महीने के बाद लौटा, तो मालूम हुआ मोहन बीमार है। काश्मीर में मुझे बार-बार मोहन को याद आती थी और जी चाहता था, लौट जाऊँ। मुझे उस पर इतना प्रेम है, इसका अन्दाज़ मुझे काश्मीर ज़ाकर हुआ; लेकिन मित्रों ने पीछा न छोड़ा। उसकी बीमारी की खबर पाते ही मैं अधीर हो उठा और दूसरे ही दिन उसके पास जा पहुँचा। मुझे देखते ही उसके पीले और सूखे हुए चेहरे पर आनन्द की स्फूर्ति झलक पड़ी। मैं दौड़कर उसके गले से लिपट गया। उसकी आँखों में वह दूरदृष्टि और चेहरे पर वह अलौकिक आभा थी, जो मँडराती हुई मृत्यु की सूचना देती है। मैंने आवेश से काँपते हुए स्वर में पूछा—यह तुम्हारी क्या दशा है मोहन? दो ही महीने में यह नौबत पहुँच गई? मोहन ने सरल मुसुकान के साथ कहा—'आप काश्मीर की सैर करने गये थे, मैं आकाश की सैर करने जा रहा हूँ।'

मगर यह दुःख कहानी कहकर मैं रोना और रुलाना नहीं चाहता। मेरे चले जाने के बाद मोहन इतने परिश्रम से पढ़ने लगा, मानो तपस्या कर रहा हो। उसे यह धुन सवार हो गई थी कि साल-भर की पढ़ाई दो महीने में समाप्त कर ले और स्कूल खुलने

के बाद मुझसे इस श्रम का प्रशंसारूपी उपहार प्राप्त करे। मैं किस तरह उसकी पीठ ठोकूँगा, शाबाशी दूँगा, अपने मित्रों से उसका बखान करूँगा, इन भावनाओं ने अपने सारे बालोचित उत्साह और तल्लीनता के साथ उसे वशीभूत कर लिया। मामाजी को दफ्तर के कामों में इतना अवकाश कहाँ कि उसके मनोरंजन का ध्यान रखें। शायद उसे प्रतिदिन कुछ-न-कुछ पढ़ते देखकर वह दिल में खुश होते थे। उसे खेलते देखकर वह जरूर डाँटते। पढ़ते देखकर भला क्या कहते। फल यह हुआ कि मोहन को हल्का-हल्का ज्वर आने लगा; किन्तु उस दशा में भी उसने पढ़ना न छोड़ा। कुछ और व्यतिक्रम भी हुए, ज्वर का प्रकोप और भी बढ़ा; पर उस दशा में भी जब ज्वर कुछ हल्का हो जाता, तो किताबें देखने लगता था। उसके प्राण मुझ में ही बसे रहते थे। ज्वर की दशा में भी नौकरों से पूछता—'भैया का पत्र आया? वह कब आएँगे?' इसके सिवा और कोई दूसरी अभिलाषा न थी। अगर मुझे मालूम होता कि मेरी काश्मीर-यात्रा इतनी महँगी पड़ेगी, तो उधर जाने का नाम भी न लेता। उसे बचाने के लिए मुझसे जो कुछ हो सकता था, वह मैंने सब किया; किन्तु बुख़ार टाइफायड था, उसकी जान लेकर ही उतरा। उसके जीवन के स्वप्न मेरे लिए किसी ऋषी के आशीर्वाद बनकर मुझे प्रोत्साहित करने लगे और यह उसी का शुभ फल है कि आज आप मुझे इस दशा में देख रहे हैं। मोहन की बाल अभिलाषाओं को प्रत्यक्ष रूप में लाकर मुझे यह संतोष होता है कि शायद उसकी पवित्र आत्मा मुझे देख-

कर प्रसन्न होती हो। यही प्रेरणा थी ; जिसने कठिन-से-कठिन परीक्षाओं में भी मेरा बेड़ा पार लगाया ; नहीं तो मैं आज भी वही मन्द-बुद्धि सूर्यप्रकाश हूँ, जिसकी सूरत से आप चिढ़ते थे।

उस दिन से मैं कई बार सूर्यप्रकाश से मिल चुका हूँ, वह जब इस तरफ आ जाता है, तो बिना मुझसे मिले नहीं जाता। मोहन को अब भी वह अपना इष्टदेव समझता है। मानव-प्रकृति का यह एक ऐसा रहस्य है, जिसे मैं आज तक नहीं समझ सका।

सद्गति

दुखी चमार द्वार पर झाड़ू लगा रहा था और उसकी पत्नी झुरिया, घर को गोबर से लीप रही थी। दोनों अपने-अपने काम से फुर्सत पा चुके, तो चमारिन ने कहा—तो जाके पंडित बाबा से कह आओ न। ऐसा न हो कहीं चले जाँय।

दुखी—हाँ जाता हूँ; लेकिन यह तो सोच, बैठेंगे किस चीज पर ?

झुरिया—कहीं से खटिया न मिल जायगी। ठकुराने से माँग लाना।

दुखी—तू तो कभी-कभी ऐसी बात कह देती है कि, देह जल जाती है। ठकुरानेवाले मुझे खटिया देंगे ! आग तक तो घर से निकलती नहीं, खटिया देंगे। कैथाने में जाकर एक लोटा पानी मागूँ, तो न मिले। भला खटिया कौन दे देगा। हमारे उपले, सेंठे, भूसा, लकड़ी थोड़े ही हैं कि, जो चाहे उठा ले जाय। ला अपनी ही खटोली धोकर रख दें। गरमी के तो दिन हैं। उनके आते-आते सूख जायगी।

झुरिया—हमारी खटोली पर वह बैठेंगे नहीं। देखते नहीं, कितने नेम-धरम से रहते हैं।

दुखी ने जरा चिन्तित होकर कहा—हाँ, यह बात तो है। महुए

के पत्ते तोड़कर एक पत्तल बना लूँ तो ठीक हो जाय। पत्तल में बड़े-बड़े आदमी खाते हैं। वह पवित्तर है। ला तो डंडा, पत्ते तोड़ लूँ।

झुरिया—पत्तल मैं बना लूँगी। तुम जाओ; लेकिन हाँ, उन्हें सीधा भी तो देना होगा। अपनी थाली में रख दूँ।

दुखी—कहीं ऐसा गजब न करना, नहीं तो सीधा भी जाय और थाली भी फूटे। बाबा थाली उठाकर पटक देंगे। उनको बड़ी जल्दी किरोध चढ़ आता है। किरोध में पंडिताइन तक को छोड़ते नहीं, लड़के को ऐसा पीटा कि आज तक टूटा हाथ लिए फिरता है। पत्तल में सीधा भी देना हाँ। मुदा तू छूना मत। भूरी गोंड़ की लड़की को लेकर साह की दूकान से सब चीजें ले आना। सीधा भरपूर हो। सेर भर आटा, आध सेर चावल, पाव भर दाल, आध पाव घी, नोन, हल्दी और पत्तल में एक किनारे चार आने पैसे रख देना। गोंड़ की लड़की न मिले, तो भुर्जिन के हाथ-पैर जोड़कर ले जाना। तू कुछ मत छूना, नहीं गजब हो जायगा।

इन बातों की ताकीद करके दुखी ने लकड़ी उठाई, और घास का एक बड़ा-सा गट्ठा लेकर पंडितजी से अर्ज़ करने चला। खाली हाथ बाबाजी की सेवा में कैसे जाता। नज़राने के लिये उसके पास घास के सिवाय और क्या था। उसे खाली हाथ देख कर, तो बाबा दूर ही से दुत्कारते।

(२)

पंडित घासीराम ईश्वर के परम भक्त थे। नींद खुलते ही ईशो-

पासन में लग जाते। मुँह हाथ धोते आठ बजते, तब असली पूजा शुरू होती, जिसका पहला भाग भंग की तयारी थी। उसके बाद आध घंटे तक चन्दन रगड़ते, फिर आईने के सामने एक तिनके से माथ पर तिलक लगाते। चन्दन को दो रेखाओं के बीच में लाल रोरी की बिन्दु होती थी। फिर छाती पर, बाहों पर चन्दन की गोल-गोल मुद्रिकाएँ बनाते। फिर ठाकुरजी का मूर्ति निकालकर उसे नहलाते, चन्दन लगाते, फूल चढ़ाते, आरती करते, घण्टी बजाते। दस बजते-बजते वह पूजन से उठते और भंग छानकर बाहर आते। तब तक दो-चार जजमान द्वार पर आ जाते। ईशोपासन का तत्काल फल मिल जाता। यही उनकी खेती थी।

आज वह पूजन-गृह से निकले, तो देखा दुखी चमार घास का एक गट्ठा लिए बैठा है। दुखी उन्हें देखते ही उठ खड़ा हुआ और उन्हें साष्टांग दण्डवत करके हाथ बाँधकर खड़ा हुआ। यह तेजस्वी मूर्ति देखकर उसका हृदय श्रद्धा से परिपूर्ण हो गया। कितनी दिव्य मूर्ति थी। छोटा-सा गोल-मटोल आदमी, चिकना सिर, फूले गाल ब्रह्मतेज से प्रदीप्त आँखें। रोरी और चन्दन देवताओं को प्रतिभा प्रदान कर रही थी। दुखी को देखकर श्रीमुख से बोले—आज कैसे चला रे दुखिया?

दुखी ने सिर झुकाकर कहा—बिटिया की सगाई कर रहा हूँ महाराज। कुछ साइत-सगुन विचारना है। कब मर्जी होगी?

घासी—आज तो मुझे छुट्टी नहीं है। हाँ, साँझ तक आ जाऊँगा।

दुखी—नहीं महाराज, जल्दी मर्जी हो जाय। सब सामान ठीक कर आया हूँ। यह घास कहाँ रख दूँ ?

घासी—इस गाय के सामने डाल दे और ज़रा झाड़ू लेकर द्वार तो साफ कर दे। यह बैठक भी कई दिन से लीपी नहीं गई। इसे भी गोबर से लीप दे। तब तक मैं भोजन कर लूँ। फिर ज़रा आराम करके चलूँगा। हाँ, यह लकड़ी भी चीर देना। खलिहान में चार खाँची भूसा पड़ा है। उसे भी उठा लाना और भुसौले में रख देना।

दुखी फ़ौरन हुक्म की तामील करने लगा। द्वार पर झाड़ू लगाई, बैठक को गोबर से लीपा। तब तक बारह बज गये। पंडित-जी भोजन करने चले गये। दुखी ने सुबह से कुछ नहीं खाया था। उसे भी ज़ोर की भूख लगी ; पर वहाँ खाने को क्या धरा था। घर यहाँ से मील भर था। वहाँ खाने चला जाय, तो पंडितजी बिगड़ जाँय। बेचारे ने भूख दबाई और लकड़ी फाड़ने लगा। लकड़ी की मोटी-सी गांठ थी, जिस पर पहले कितने ही भक्तों ने अपना ज़ोर आजमा लिया था। वह उसी दम खम के साथ लोहे से लोहा लेने के लिये तैयार थी। दुखी घास छीलकर बाज़ार ले जाता था। लकड़ी चीरने का उसे अभ्यास न था। घास उसके खुरपे के सामने सिर झुका देती थी। यहाँ कस-कस कर कुल्हाड़ी का भरपूर हाथ लगाता ; पर उस गाँठ पर निशान तक न पड़ता था। कुल्हाड़ी उचट जाती। पसीने में तर था, हाँपता था, थककर बैठ जाता था, फिर उठता था, हाथ उठाये न उठते थे, पाँव काँप

रहे थे, कमर न सीधी होती थी, आँखों तले अँधेरा हो रहा था, सिर में चक्कर आ रहे थे, तितलियाँ उड़ रही थीं, फिर भी अपना काम किये जाता था। अगर एक चिलम तम्बाकू पीने को मिल जाता, तो शायद कुछ ताकत आती। उसने सोचा, यहाँ चिलम और तम्बाकू कहाँ मिलेगी। बाम्हनों का पुरा है। बाम्हन लोग हम नीच जातों की तरह तमाखू थोड़े ही पीते हैं। सहसा उसे याद आया कि गाँव में एक गोंड़ भी रहता है। उसके यहाँ जरूर चिलम तमाखू होगी। तुरत उसके घर दौड़ा। खैर मेहनत तो सुफल हुई। उसने तमाखू भी दी और चिलम भी दी; पर आग वहाँ न थी। दुखी ने कहा—आग की चिन्ता न करो भाई। मैं जाता हूँ पंडितजी के घर से आग माँग लूँगा। वहाँ तो अभी रसोई बन रही थी।

यह कहता हुआ वह दोनों चीजें लेकर चला आया और पंडितजी के घर में बरौठे के द्वार पर खड़ा होकर बोला—मालिक, रचिक आग मिल जाय, तो चिलम पी लें।

पण्डितजी भोजन कर रहे थे। पंडिताइन ने पूछा—यह कौन आदमी आग माँग रहा है?

पण्डित—अरे वही ससुरा दुखिया चमार है। कहा है थोड़ी-सी लकड़ी चीर दे। आग तो है, दे दो।

पण्डिताइन ने भवें चढ़ाकर कहा—तुम्हें तो, जैसे पोथी-पत्रे के फेर में धरम-करम किसी बात की सुधि ही नहीं रही। चमार हो, धोबी हो, पासी हो, मुँह उठाये घर में चला आये। हिन्दू का घर

न हुआ, कोई सराय हुई। कह दो डाढ़ीजार से चला जाय, नहीं तो इसी लुआठे से मुँह को झुलस दूँगी। आग माँगने चले हैं।

पण्डितजी ने उन्हें समझाकर कहा—भीतर आ गया, तो क्या हुआ, तुम्हारी कोई चीज़ तो नहीं छुई। धरती पवित्र है। ज़रा-सी आग दे क्यों नहीं देतीं, काम तो हमारा ही कर रहा है। कोई लोनिया यही लकड़ी फाड़ता, तो कम-से-कम चार आने लेता।

पण्डिताइन ने गरजकर कहा—वह घर में आया क्यों ?

पण्डित ने हारकर कहा—ससुरे का अभाग था, और क्या ?

पण्डिताइन—अच्छा इस वखत तो आग दिये देती हूँ ; लेकिन फिर जो इस तरह कोई घर में आवेगा, तो उसका मुँह ही जला-दूँगी।

दुखी के कानों में इन बातों की झनक पड़ रही थी। पछता रहा था, नाहक आया। सच तो कहती हैं। पंडित के घर में चमार कैसे चला आये। बड़े पबित्तर होते हैं यह लोग, तभी तो संसार पूजता है, तभी तो इतना मान है। चर-चमार थोड़े ही हैं। इसी गाँव में बूढ़ा हो गया; मगर मुझे इतनी अकल भी न आई।

इसलिये जब पण्डिताइन आग लेकर निकलीं, तो वह मानो स्वर्ग का वरदान पा गया। दोनों हाथ जोड़कर जमीन पर माथा टेकता हुआ बोला—पड़ाइन माता, मुझसे बड़ी भूल हुई कि घर में चला आया। चमार की अकल ही तो ठहरी। इतने मूरख न होते, तो लात क्यों खाते। पंडिताइन चिमटे से पकड़कर आग लाई थीं। पाँच हाथ की दूरी से घूँघट की आड़ से दुखी की तरफ़ आग

फेंकी। आग की बड़ी-सी चिंगारी दुखी के सिर पर पड़ गई। जल्दी से पीछे हटकर सिर को झोंटे देने लगा। उसके मन ने कहा—यह एक पवित्तर बराह्मन के घर को अपवित्तर करने का फल है। भगवान ने कितनी जल्दी फल दे दिया। इसी से तो संसार पण्डितों से डरता है, और सबके रुपये मारे जाते हैं। बराम्हन के रुपये भला कोई मार तो ले। घर भर का सत्यानाश हो जाय, पाँव गल-गल कर गिरने लगे।

बाहर आकर उसने चिलम पी और फिर कुल्हाड़ी लेकर जुट गया। खट-खट की आवाजें आने लगीं।

उस पर आग पड़ गई, तो पण्डिताइन को उस पर कुछ दया आ गई। पण्डितजी भोजन करके उठे, तो बोलीं—इस चमरवा को भी कुछ खाने को दे दो, बेचारा कब से काम कर रहा है। भूखा होगा।

पण्डितजी ने इस प्रस्ताव को व्यवहारिक क्षेत्र से समझकर पूँछा—रोटियाँ हैं ?

पंडिताइन—दो-चार बच जाँयगी।

पंडित—दो-चार रोटियों में क्या होगा ? चमार है, कम-से-कम सेर भर चढ़ा जायगा।

पंडिताइन—कानों पर हाथ रखकर बोलीं—अरे बाप रे ! सेर भर ! तो फिर रहने दो।

पंडितजी ने अब शेर बनकर कहा—कुछ भूसी चोकर हो तो आटे में मिलाकर दो ठो लिट्ट ठोंक दो। साले का पेट भर

जायगा। पतली रोटियों से इन नीचों का पेट नहीं भरता। इन्हें तो जुआर का लिट्ट चाहिए।

पंडिताइन ने कहा—अब जाने भी दो, धूप में कौन मरे!

(३)

दुखी ने चिलम पीकर फिर कुल्हाड़ी सँभाली। दम लेने से ज़रा हाथों में ताक़त आगई थी। कोई आध घण्टे तक फिर कुल्हाड़ी चलाता रहा। फिर बेदम होकर वहीं सिर पकड़ के बैठ गया।

इतने में वही गोंड़ आगया। बोला—क्यों जान देते हो बूढ़े दादा, तुम्हारे फाड़े यह गाँठ न फटेगी। नाहक हलाकान होते हो।

दुखी ने माथे का पसीना पोंछकर कहा—अभी गाड़ी भर भूसा ढोना है भाई।

गोंड़, कुछ खाने को मिला कि काम ही कराना जानते हैं। जाके माँगते क्यों नहीं।

दुखी—कैसी बात करते हो चिखुरी, बाम्हन की रोटी हमको पचेगी।

गोंड़—पचने को तो पच जायगी, पहले मिले तो। मूछों पर ताव देकर भोजन किया और आराम से सोए, तुम्हें लकड़ी फाड़ने का हुक्म लगा दिया, जमींदार भी कुछ खाने को देता है। हाकिम भी बेगार लेता है, तो थोड़ी बहुत मजूरी दे देता है। यह उनसे भी बढ़ गए, उस पर धर्मात्मा बनते हैं।

दुखी—धीरे-धीरे बोलो भाई, कहीं सुन लें, तो आफत आजाय

यह कह कर दुखी फिर संभल पड़ा और कुल्हाड़ी की चोट मारने लगा। चिखुरी को उस पर दया आई। आकर कुल्हाड़ी उसके हाथ से छीन ली और कोई आध घंटे खूब कस-कसकर कुल्हाड़ी चलाई; पर गाँठ में एक दरार भी न पड़ी। तब उसने कुल्हाड़ी फेंक दी और यह कहकर चला गया—तुम्हारे फाड़े यह न फटेगी, जान भले निकल जाय।

दुखी सोचने लगा, बाबा ने यह गाँठ कहाँ रख छोड़ी थी कि फाड़े नहीं फटती। कहीं दरार तक तो नहीं पड़ती। मैं कब तक इसे चीरता रहूँगा। अभी घर पर सौ काम पड़े हैं। कारपरोज का घर है, एक-न-एक चीज घटी ही रहती है; पर इन्हें इसकी क्या चिन्ता। चलूँ जब तक भूसा ही उठा लाऊँ, कह दूँगा, बाबा! आज तो लकड़ी नहीं फटी, कल आकर फाड़ दूँगा।

उसने झौवा उठाया और भूसा ढोने लगा खलिहान यहाँ से दो फरलांग से कम न था। अगर झौवा खूब भर-भर लाता, तो काम जल्द खत्म हो जाता; लेकिन फिर झौवे को उठवाता कौन। अकेला भरा हुआ झौवा उससे न उठ सकता था। इसलिये थोड़ा-थोड़ा लाता था। चार बजे कहीं भूसा खत्म हुआ। पंडितजी की नींद भी खुली। मुँह-हाथ धोया, पान खाया, और बाहर निकले। देखा, तो दुखी झौवे पर सिर रक्खे सो रहा है। जोर से बोले—अरे दुखिया, तू सो रहा है! लकड़ी तो अभी ज्यों-की-त्यों पड़ी हुई है। इतनी देर तू करता क्या रहा। मुट्ठी भर भूसा ढोने में संझा कर दी। उस पर सो रहा है। उठा ले कुल्हाड़ी और लकड़ी

फाड़ डाल। तुझसे ज़रा-सी लकड़ी भी नहीं फटती। फिर साइत भी वैसी ही निकलेगी, मुझे दोष मत देना। इसीसे कहा है कि नीच के घर में खाने को हुआ और उसकी आँख बदली।

दुखी ने फिर कुल्हाड़ी उठाई। जो बातें पहले से सोच रक्खी थीं, वह सब भूल गईं। पेट, पीठ में धँसा जाता था, आज सबेरे जलपान तक न किया था। अवकाश ही न मिला। उठना भी पहाड़ मालूम होता। जी डूबा जाता था; पर दिल को समझाकर उठा। पंडित हैं, कहीं साइत ठीक न विचारें, तो फिर सत्यानाश ही हो जाय। जभी तो संसार में इतना मान है। साइत ही का तो सब खेल है। जिसे चाहें बना दें, जिसे चाहें बिगाड़ दें। पंडितजी गाँठ के पास आकर खड़े हो गये और बढ़ावा देने लगे—हाँ, मार कस के, और मार—कसके मार—अबे ज़ोर से मार—तेरे हाथ में तो जैसे दम ही नहीं है—लगा कस के, खड़ा सोचने क्या लगता है—हाँ—बस फटा ही चाहती है। दे उसी दरार में।

दुखी अपने होश में न था। न जाने कौन-सी गुप्त शक्ति उसके हाथों को चला रही थी। वह थकन, भूख, कमज़ोरी सब मानो भाग गई। उसे अपने बाहुबल पर स्वयं आश्चर्य हो रहा था। एक-एक चोट वज्र की तरह पड़ती थी। आध घंटे तक वह इसी तरह उन्माद की दशा में हाथ चलाता रहा, यहाँ तक कि लकड़ी बीच से फट गई—और दुखी के हाथ से कुल्हाड़ी छूट कर गिर पड़ी। इसके साथ वह भी चक्कर खाकर गिर पड़ा। भूखा, प्यासा, थका हुआ शरीर जवाब दे गया।

पंडितजी ने पुकारा—उठके दो-चार हाथ और लगा दे। पतली-पतली चैलियाँ हो जाँय। दुखी न उठा। अब उसे दिक़ करना उचित न समझा। पंडितजी ने भीतर जाकर बूटी छानी, शौच गये, स्नान किया और पण्डिताई बाना पहनकर बाहर निकले। दुखी अभी तक वहीं पड़ा हुआ था। ज़ोर से पुकारा—अरे क्या पड़े ही रहोगे दुखी, चलो तुम्हारे ही घर चल रहा हूँ। सब सामान ठीक-ठाक है न? दुखी फिर भी न उठा।

अब पण्डितजी को कुछ शंका हुई। पास जाकर देखा, तो दुखी अकड़ा पड़ा हुआ था। बदहवास होकर भागे और पंडिताइन से बोले—दुखिया तो जैसे मर गया।

पंडिताइन हकबकाकर बोलीं—वह तो अभी लकड़ी चीर रहा था न!

पंडित—हाँ लकड़ी चीरते-चीरते मर गया। अब क्या होगा?

पंडिताइन ने शांत होकर कहा—होगा क्या, चमरौने में कहला भेजो, मुर्दा उठा ले जाँय।

एक क्षण में गाँव भर में खबर हो गई। पूरे में बाम्हनों की ही बस्ती थी। केवल एक घर गोंड़ का था। लोगों ने उधर का रास्ता छोड़ दिया! कुएँ का रास्ता उधर ही से था, पानी कैसे भरा जाय। चमार की लाश के पास से होकर पानी भरने कौन जाय। एक बुढ़िया ने पंडितजी से कहा—अब मुर्दा फेंकवाते क्यों नहीं। कोई गाँव में पानी पीयेगा या नहीं?

उधर गोंड़ ने चमरौने में जाकर सब से कह दिया—खबरदार,

मुर्दा उठाने मत जाना। अभी पुलीस की तहक़ीकात होगी। दिल्लगी है कि एक गरीब की जान ले ली। पंडित होंगे, तो अपने घर के होंगे। लाश उठाओगे, तो तुम भी पकड़ जाओगे।

इसके बाद ही पंडितजी पहुँचे ; पर चमराने का कोई आदमी लाश उठा लाने को तैयार न हुआ। हाँ दुखी की स्त्री और कन्या दोनों हाय-हाय करती वहाँ से चलीं और पंडितजी के द्वार पर आकर सिर पीट-पीटकर रोने लगीं। उनके साथ दस-पाँच और चमारिनें थीं। कोई रोती थी, कोई समझाती थी ; पर चमार एक भी न था। पंडितजी ने चमारों को बहुत धमकाया, समझाया, मिन्नत की ; पर चमारों के दिल पर पुलीस का रोब छाया हुआ था, एक भी न मिनका। आखिर निराश होकर लौट आये।

(४)

आधीरात तक रोना-पीटना जारी रहा। देवताओं को सोना मुश्किल हो गया ; पर लाश उठाने कोई चमार न आया, और बाम्हन चमार की लाश कैसे उठाते ! भला ऐसा किसी शास्त्र-पुरान में लिखा है ? कहीं कोई दिखा दे।

पंडिताइन ने झुँझलाकर कहा—इन डाइनों ने तो खोपड़ी चाट डाली। सभों का गला भी नहीं पकता।

पंडित ने कहा—रोने दो चुड़ेलों को, कब तक रोयँगी। जीता था, तो कोई बात न पूछता था। मर गया, तो कोलाहल मचाने के लिए सब-की-सब आ पहुँचीं।

पंडिताइन—चमारों का रोना मनहूस है।

पंडित—हाँ, बहुत मनहूस।

पंडिताइन—अभी से दुर्गन्ध उठने लगी।

पंडित—चमार था ससुरा कि नहीं। खाद्य-अखाद्य किसी का विचार है इन सबों को।

पंडिताइन—इन सबों को घिन भी नहीं लगती।

पंडित—भ्रष्ट हैं सब।

रात तो किसी तरह कटी; मगर सबेरे भी कोई चमार न आया। चमारिनें भी रो-पीट चली गई। कुछ-कुछ दुर्गन्ध फैलने लगी।

पंडितजी ने एक रस्सी निकाली। उसका फंदा बनाकर मुरदे के पैर में डाला, और फंदे को खींचकर कस दिया। अभी कुछ-कुछ धुँधरा था। पंडितजी ने रस्सी पकड़कर लाश को घसीटना शुरू किया और गाँव के बाहर घसीट ले गए। वहाँ से आकर तुरन्त स्नान किया, दुर्गापाठ पढ़ा और घर में गङ्गा-जल छिड़का।

उधर दुखी की लाश को खेत में गीदड़ और गिद्ध, कुत्ते और कौए नोच रहे थे। यही जीवन पर्यन्त की भक्ति, सेवा और निष्ठा का पुरस्कार था।

तगादा

सेठ चेतराम ने स्नान किया, शिवजी को जल चढ़ाया, दो दाने मिर्च चबाए, दो लोटे पानी पिया और सोटा लेकर तगादे पर चले।

सेठजी की उम्र कोई पचास की थी। सिर के बाल झड़ गये थे और खोपड़ी ऐसी साफ़-सुथरी निकल आई थी, जैसे ऊसर खेत। आपकी आँखें थीं तो छोटी; लेकिन, बिलकुल गोल। चेहरे के नीचे पेट था और पेट के नीचे टाँगें, मानो किसी पीपे में दो मेखें गाड़ दी गई हों। लेकिन, यह खाली पीपा न था। इसमें सजीवता और कर्म-शीलता कूट-कूटकर भरी हुई थीं। किसी बाक़ीदार असामी के सामने इस पीपे का उछलना-कूदना और पैतरे बदलना देखकर किसी नट का चिंगिया भी लज्जित हो जाता। कैसी आँखें लाल-पीली करते, कैसे गरजते कि दर्शकों की भीड़ लग जाती थी। उन्हें कंजूस तो नहीं कहा जा सकता; क्योंकि, जब वह दूकान पर होते, तो हरेक भिखमंगे के सामने एक कौड़ी फेंक देते। हाँ, उस समय उनके माथे पर कुछ ऐसा बल पड़ जाता, आँखें कुछ ऐसी प्रचण्ड हो जातीं, नाक कुछ ऐसी सीकुड़ जाती, कि भिखारी फिर उनकी दूकान पर न आता था। लेहने का बाप तगादा है, इस

सिद्धान्त के वह अनन्य भक्त थे। जल-पान करने के बाद संध्या तक वह बराबर तगादा करते रहते थे। इसमें एक तो घर का भोजन बचता था, दूसरे, असामियों के माथे दूध, पूरी मिठाई आदि पदार्थ खाने को मिल जाते थे। एक वक्त का भोजन बच जाना कोई साधारण बात नहीं है। अगर एक भोजन का एक आना भी रख लें, तो केवल इसी मद में उन्होंने अपने तीस वर्षों के महाजनी जीवन में कोई आठ सौ रुपये बचा लिये थे। फिर लौटते समय दूसरी बेला के लिये भी दूध, दही, तेल, तरकारी उपले, ईंधन मिल जाते थे। बहुधा संध्या का भोजन भी न करना पड़ता। इसलिए तगादे से न चूकते थे। आसमान फट पड़ता हो, आग बरस रही हो, आँधी आई हो ; पर सेठ जी प्रकृति के अटल नियम की भाँति तगादे पर जरूर निकल जाते थे।

सेठानी ने पूछा—'भोजन ?

सेठजी ने गरज कर कहा—'नहीं।'

'साँझ का ?'

'आने पर देखी जायगी' ?

(२)

सेठजी के एक किसान पर पाँच रुपये आते थे। ६ महीने से दुष्ट ने सूद-ब्याज कुछ न दिया था, और न कभी कोई सौग़ात लेकर ही हाजिर हुआ था। उसका घर तीन कोस से कम न था, इसीलिये सेठजी टालते आते थे। आज उन्होंने उसी गाँव चलने का निश्चय कर लिया। आज बिना उस दुष्ट से रुपये लिये न

मानूँगा, चाहे कितना ही रोए, घिघियाए ; मगर इतनी लम्बी यात्रा पैदल करना निन्दास्पद था। लोग कहेंगे—नाम बड़े दर्शन थोड़े। कहलाने को सेठ, चलते हैं पैदल। इसलिये मंथर गति से इधर-उधर ताकते, राहगीरों से बातें करते चले जाते थे कि, लोग समझें वायुसेवन करने जारहे हैं।

सहसा एक ख़ाली इक्का उसी तरफ़ जाता हुआ मिल गया। इक्केवान ने पूछा—कहाँ लाला, कहाँ जाना है ?

सेठजी ने कहा—जाना तो कहीं नहीं है, दो परग तो और है ; लेकिन लाओ बैठ जायँ।

इक्केवाले ने चुभती हुई आँखों से सेठजी को देखा। सेठजी ने भी अपनी गोल आँखों से उसे घूरा। दोनों समझ गये, आज लोहे के चने चबाने पड़ेंगे।

इक्का चला। सेठजी ने पहला वार किया—कहाँ घर है मियाँ साहब ?

'घर कहाँ है हुजूर, जहाँ पड़ रहूँ, वहीं घर है। जब घर था तब था। अब तो बेघर, बेजर, बेदर हूँ और सबसे बड़ी बात यह कि बेपर हूँ। तक़दीर ने पर काट लिये। लँडूरा बनाकर छोड़ दिया। मेरे दादा नवाबी में चकलेदार थे, हुजूर, सात जिले के मालिक, जिसे चाहें तोप दम करदें, फाँसी पर लटका दें। सूरज निकलने के पहले लाखों की थैलियाँ नजर चढ़ जाती थीं हुजूर। नवाब साहब भाई की तरह मानते थे। एक दिन वह थे, एक दिन यह है कि हम आप लोगों की गुलामी कर रहे हैं। दिनों का फेर है।'

सेठजी को हाथ मिलाते ही मालूम हो गया, पक्का फिकैत है, अखाड़े-बाज, इससे पेश पाना मुश्किल है; पर अब तो कुश्ती बद गई थी, अखाड़े में उतर पड़े थे। बोले—तो यह कहो कि बादशाही घराने के हो। यह सूरत ही गवाही दे रही है। दिनों का फेर है भाई, सब दिन बराबर नहीं जाते। हमारे यहाँ लक्ष्मी को चञ्चला कहते हैं, बराबर चलती रहती है, आज मेरे घर कल तुम्हारे घर। तुम्हारे दादा ने रुपये तो खूब छोड़े होंगे?

इक्केवाला—अरे सेठ, उस दौलत का कोई हिसाब था। न जाने कितने तैखाने भरे हुए थे। बोरों में तो सोने-चाँदी के डले रक्खे हुए थे। जवाहरात टोकरियों में भरे पड़े थे। एक-एक पत्थर पचास-पचास लाख का। चमक-दमक ऐसी थी, कि चिराग़ मात! मगर तक़दीर भी तो कोई चीज़ है। इधर दादा का चालीसवाँ हुआ, उधर नवाबी बुर्द हुई। सारा ख़ज़ाना लुट गया। छकड़ों पर लाद-लादकर लोग जवाहरात ले गये। फिर भी घर में इतना बच रहा था, कि अब्बाजान ने ज़िन्दगी भर ऐश किया—ऐसा ऐश किया, कि क्या कोई भकुवा करेगा। सोलह कहारों के सुखपाल पर निकलते थे। आगे-पीछे चोबदार दौड़ते चलते थे। फिर भी मेरे गुज़र भर को उन्होंने बहुत छोड़ा। अगर हिसाब-किताब से रहता, तो आज भला आदमी होता; लेकिन रईस का बेटा रईस ही तो होगा। एक बोतल चढ़ाकर बिस्तर से उठता था। रात-रात भर मुजरे होते रहते थे। क्या जानता था, एक दिन यह ठोकरें खानी पड़ेंगी।

सेठ—अल्लामियाँ का सुकुर करो भाई कि ईमानदारी से अपने बाल-बच्चों की परवरिस तो करते हो। नहीं तो हमारे-तुम्हारे कितने ही भाई रात-दिन कुकर्म करते रहते हैं, फिर भी दाने-दाने को मुहताज रहते हैं। ईमान की सलामती चाहिये, नहीं, दिन तो सभी के कट जाते हैं, दूध-रोटी खाकर कटे तो क्या, सूखे चने चबा कर कटे तो क्या। बड़ी बात तो ईमान है। मुझे तो तुम्हारी सूरत देखते ही मालूम हो गया था, कि नीयत के साफ़-सच्चे आदमी हो। बेईमानों की तो सूरत ही से फटकार बरसती है।

इक्केवाला—सेठजी आपने ठीक कहा, कि ईमान सलामत रहे, तो सब कुछ है। आप लोगों से चार पैसे मिल जाते हैं, वही बाल-बच्चों को खिला-पिलाकर पड़ रहता हूँ। हजूर, और इक्केवालों को देखिये, तो कोई किसी मर्ज़ में मुब्तिला है, कोई किसी मर्ज़ में। मैंने तोबा बोला! ऐसा काम ही क्यों करें, कि मुसीबत में फँसे। बड़ा कुन्बा है। हजूर, माँ हैं, बच्चे हैं, कई बेवाये हैं और कमाई यही इक्का है। फिर भी अल्लाह मियाँ किसी तरह निबाहे जाते हैं।

सेठ—वह बड़ा कारसाज है खाँ साहब, तुम्हारी कमाई में हमेशा बरकत होगी।

इक्केवाला—आप लोगों की मेहरबानगी चाहिये।

सेठ—भगवान की मेहरबानगी चाहिये। तुम से खूब भेंट होगई; मैं इक्केवालों से बहुत घबराता हूँ; लेकिन अब मालूम हुआ, अच्छे-बुरे सभी जगह होते हैं। तुम्हारा जैसा सच्चा, दीनदार आदमी मैंने नहीं देखा। कैसी तो साफ तबीयत पाई है तुमने, कि वाह!

सेठजी की ये लच्छेदार बातें सुनकर इक्केवाला समझ गया कि यह महाशय पल्ले सिरे के बैठकबाज़ हैं। यह सिर्फ मेरी तारीफ़ करके मुझे चकमा दिया चाहते हैं। अब और किसी पहलू से अपना मतलब निकालना चाहिए। इनकी दया से तो कुछ ले मरना मुश्किल है, शायद इनके भय से कुछ ले मरूँ। बोला—मगर लाला, यह न समझिए कि मैं जितना सीधा और नेक नज़र आता हूँ, उतना सीधा और नेक हूँ भी। नेकों के साथ नेक हूँ; लेकिन बुरों के साथ पक्का बदमाश हूँ। यों कहिए आपकी जूतियाँ सीधी कर दूँ; लेकिन केराये के मामले में किसी के साथ रिआयत नहीं करता। रिआयत करूँ, तो खाऊँ क्या।

सेठजी ने समझा था, इक्केवाले को हत्थे पर चढ़ा लिया। अब यात्रा निर्विघ्न और निश्शुल्क समाप्त हो जायगी; लेकिन यह आलाप सुना, तो कान खड़े हुए। बोले—भाई रुपये-पैसे के मामले में, मैं भी किसी से रिआयत नहीं करता; लेकिन कभी-कभी जब यार दोस्तों का मामला आ पड़ता है, तो झक मारकर दबना ही पड़ता है। तुम्हें भी कभी-कभी बल खाना ही पड़ता होगा। दोस्तों से बेमुरौअती तो नहीं की जाती।

इक्केवाले ने रूखेपन से कहा—मैं किसी के साथ मुरौअत नहीं करता। मुरौअत का सबक़ तो उस्ताद ने पढ़ाया ही नहीं। एक ही चंडूल हूँ। मजाल क्या कि कोई एक पैसा दबा ले। घरवाली तक को तो मैं एक पैसा देता नहीं, दूसरों की बात ही क्या है। और इक्केवाले अपने महाजन की खुशामद करते हैं। उसके दरवाजे

पर खड़े रहते हैं। यहाँ महाजनों को भी धता बताता हूँ। सब मेरे नाम को रोते हैं। रुपए लिए और साफ डकार गया। देखें अब कैसे वसूल करते हो बच्चा, नालिश करो, घर में क्या धरा है, जो ले लोगे।

सेठजी को मानो जूड़ी चढ़ आई। समझ गये, यह शैतान बिना पैसे लिये न मानेगा। जानते कि यह विपत्ति गले पड़ेगी, तो भूलकर भी इक्के पर पाँव न रखते। इतनी दूर पैदल चल लेने में कौन पैर टूटे जाते थे। अगर इस तरह रोज़ पैसे देने पड़े, तो फिर लेन-देन कर चुका।

सेठजी भक्त जीव थे। शिवजी को जल चढ़ाने में, जब से होश संभाला, एक नागा भी न किया। क्या भक्तवत्सल शंकर भगवान, इस अवसर पर मेरी सहायता न करेंगे। इष्ट देव का सुमिरन करके बोले—खाँ साहब, और किसी से चाहे न दबो; पर पुलिस से तो दबना ही पड़ता होगा। वह तो किसी के सगे नहीं होते।

इक्केवाले ने कहकहा मारा—कभी नहीं, उससे उल्टे और कुछ-न-कुछ वसूल करता हूँ। जहाँ कोई शिकार मिला, झट सस्ते भाड़े बैठाता हूँ और थाने पर पहुँचा देता हूँ। केराया भी मिल जाता है और इनाम भी। क्या मजाल कि कोई बोल सके। लइसन नहीं लिया आज तक लइसन! मजे से सदर में इक्का दौड़ाता फिरता हूँ। कोई साला चूं नहीं कर सकता। मेले-ठेलों में अपनी खूब बन आती है। अच्छे-अच्छे माल चुन-चुनकर कोतवाली

पहुँचाता हूँ। वहाँ कौन किसी की दाल गलती है। जिसे चाहें रोक लें, एक दिन, दो दिन, तीन दिन। बीस बहाने हैं। कह दिया, सक था कि यह औरत को भगाये लिये जाता था, या औरत को कह दिया कि अपनी ससुराल से रूठ कर भागी जाती थी। फिर कौन बोल सकता है। साहब भी छोड़ना चाहें, तो नहीं छोड़ सकते। मुझे सीधा न समझिएगा। एक ही हरामी हूँ। सवारियों से पहले केराया तय नहीं करता, ठिकाने पहुँच कर एक के दो लेता हूँ। जरा भी चीं-चपड़ किया, तो आस्तीन चढ़ा, पैतरे बदलकर खड़ा हो जाता हूँ। फिर कौन है, जो सामने ठहर सके।

सेठजी को रोमांच हो आया। हाथ में एक सोंटा तो था; पर उसका व्यवहार करने की शक्ति का उनमें अभाव था। आज बुरे फँसे, न जाने किस मनहूस का मुँह देख कर घर से चले थे। कहीं यह दुष्ट उलझ पड़े, तो दस-पाँच दिन हल्दी-सोंठ पीना पड़े। अब से भी कुशल है, यहाँ उतर जाऊँ, जो बच जाय वही सही। भीगी बिल्ली बन कर बोले—अच्छा अब रोक लो, खाँ साहब, मेरा गाँव आ गया। बोलो तुम्हें क्या दे दूँ?

इक्केवाले ने घोड़ी को एक चाबुक और लगाया और निर्दयता से बोला—मजूरी सोच लो भाई। तुम को न बैठाया होता, तो तीन सवारियाँ बैठा लेता। तीनों चार-चार आने भी देते, तो बारह आने हो जाते। तुम आठ ही आने दे दो।

सेठजी की बधिया बैठ गई। इतनी बड़ी रक़म उन्होंने उम्र भर इस मद में नहीं ख़र्च की थी। इतनी-सी दूर के लिये इतना

केराया, वह किसी तरह न दे सकते थे। मनुष्य के जीवन में एक ऐसा अवसर भी आता है, जब परिणाम की उसे चिन्ता नहीं रहती। सेठजी के जीवन में यह ऐसा ही अवसर था। अगर आने-दो-आने की बात होती, तो खून का घूँट पीकर दे देते; लेकिन आठ-आने के लिये कि जिसका द्विगुण एक कलदार होता है, अगर तू-तू मैं-मैं ही नही, हाथापाई की भी नौबत आवे, तो वह करने को तैयार थे। यह निश्चय करके वह दृढ़ता के साथ बैठे रहे।

सहसा सड़क के किनारे एक झोंपड़ा नज़र आया। इक्का रुक गया। सेठजी उतर पड़े और कमर से एक दुअन्नी निकाल कर इक्केवान की ओर बढ़ाई।

इक्केवान ने सेठजी के तीवर देखे, तो समझ गया, ताव बिगड़ गया। चाशनी कड़ी होकर कठोर हो गई। अब यह दाँतों से लड़ेगी। इसे चुबला ही कर मिठास का आनन्द लिया जा सकता है। नम्रता से बोला—मेरी ओर से इसकी रेवड़ियाँ लेकर बाल-बच्चों को खिला दीजियेगा। अल्लाह आपको सलामत रक्खे।

सेठजी ने एक आना और निकाला और बोले—बस, अब जबान न हिलाना, एक कौड़ी भी बेसी न दूँगा।

इक्केवाला—नहीं मालिक, आप ही ऐसा कहेंगे, तो हम ग़रीबों के बाल-बच्चे कहाँ से पलेंगे। हम लोग भी आदमी पहचानते हैं हज़ूर।

इतने में झोपड़ी में से एक स्त्री गुलाबी साड़ी पहने, पान चबाती हुई निकल आई और बोली—आज बड़ी देर लगाई

(यकायक सेठजी को देखकर) अच्छा, आज लालाजी तुम्हारे इक्के पर थे। फिर आज तुम्हारा मिजाज काहे को मिलेगा। एक चेहरेसाही तो मिली ही होगी। इधर बढ़ा दो सीधे से।

यह कहकर वह सेठजी के समीप आकर बोली—आराम से चरपैया पर बैठो लाला। बड़े भाग थे कि आज सबेरे-सबेरे आपके दर्शन हुए।

उसके वस्त्र मन्द-मन्द महक रहे थे। सेठजी का दिमाग़ ताज़ा हो गया। उसकी ओर कनखियों से देखा। औरत चञ्चल, बाँकी, कटीली तेज़-तर्रार थी। सेठानीजी की मूर्ति आँखों के सामने आ गई—भद्दी, थल-थल, पिल-पिल, पैरों में बेवाय फटी हुई, कपड़ों से दुर्गन्ध उड़ती हुई। सेठजी नाम मात्र को भी रसिक न थे; पर इस समय आँखों से हार गये। आँखों को उधर से हटाने की चेष्टा करके चारपाई पर बैठ गये। अभी कोस भर की मंजिल बाकी है, इसका ख्याल ही न रहा।

स्त्री एक छोटी-सी पंखिया उठा लाई और सेठजी को झलने लगी। हाथ की प्रत्येक गति के साथ सुगन्ध का एक झोंका आकर सेठजी को उन्मत्त करने लगा।

सेठजी ने जीवन में ऐसा उल्लास कभी अनुभव न किया था। उन्हें प्रायः सभी घृणा की दृष्टि से देखते थे। चोला मस्त हो गया। उसके हाथ से पंखियाँ छीन लेनी चाही।

'तुम्हें कष्ट होरहा है, लाओ मैं झल लूँ।'

'यह कैसी बात है लालाजी। आप हमारे दरवज्जे पर आये

हैं। क्या इतनी खातिर भी न करने दीजियेगा। और हम किस लायक हैं। इधर कहीं दूर जाना है ? अब तो बहुत देर होगई। कहाँ जाइएगा।'

सेठजी ने पापी आँखों को फेरकर और पापी मन को दबाकर कहा—यहाँ से थोड़ी दूर पर एक गाँव है, वहीं जाना है। साँझ को इधर ही से लौटूँगा।

सुन्दरी ने प्रसन्न होकर कहा—तो फिर आज यहीं रहियेगा। साँझ को फिर कहाँ जाइयेगा एक दिन घर के बाहर की हवा भी खाइये। फिर न जाने कब मुलाकत होगी।

इक्केवाले ने आकर सेठजी के कान में कहा—पैसे निकालिये तो दाने-चारे का इन्तजाम करूँ।

सेठजी ने चुपके से अठन्नी निकाल कर दे दी।

इक्केवाले ने फिर पूछा—आपके लिए कुछ मिठाई लेता आऊँ ? यहाँ आपके लायक मिठाई तो क्या मिलेगी, हाँ, मुँह मीठा होजायगा।

सेठजी बोले—मेरे लिए कोई जरूरत नहीं, हाँ बच्चो के लिए यह चार आने की मिठाई लिवाते आना।

चवन्नी निकालकर सेठजी ने उसके सामने ऐसे गर्व से फेंकी, मानो इसकी उनके सामने कोई हक़ीकत नहीं है। सुन्दरी के मुँह का भाव तो देखना चाहते थे ; पर डरते थे कि, कहीं वह यह न समझे लाला चवन्नी क्या दे रहे हैं, मानो किसी को मोल ले रहे हैं।

इक्केवाला चवन्नी उठाकर जा ही रहा था कि सुन्दरी ने कहा—

सेठजी की चवन्नी लौटा दो, लपक कर उठालो। शर्म नहीं आती। यह मुझसे रुपया लेलो। आठ आने की ताज़ी मिठाई बनवा कर लाओ।

उसने रुपया निकाल कर फेंका। सेठजी मारे लाज के गड़ गये। एक इक्केवान की भटियारिन जिसकी टके की भी औकात नहीं, इतनी ख़ातिरदारी करे कि, उनके लिये पूरा रुपया निकाल कर दे दे, यह भला वह कैसे सह सकते थे। बोले—नहीं-नहीं, यह नहीं हो सकता। तुम अपना रुपया रख लो। (रसिक आँखों को तृप्त करके) मैं रुपया दिये देता हूँ। यह लो, आठ आने की ले लेना!

इक्केवान तो उधर मिठाई और दाना चारे की फिक्र में चला, इधर सुन्दरी ने सेठ से कहा—वह तो अभी देर में आवेगा लाला, तब तक पान तो खाओ।

सेठजी ने इधर-उधर ताक कर कहा—यहाँ तो कोई तम्बोली नहीं है।

सुन्दरी उनकी ओर कटाक्ष-पूर्ण नेत्रों से देखकर बोली—क्या मेरे लगाए पान तम्बोली के पानों से भी ख़राब होंगे?

सेठजी ने लज्जित होकर कहा—नहीं-नहीं, यह बात नहीं। तुम मुसलमान हो न?

सुन्दरी ने विनोदमय आग्रह से कहा—खुदा की क़सम, इसी बात पर मैं तुम्हें पान खिलाकर छोड़ूँगी!

यह कहकर उसने पानदान से एक बीड़ा निकाला और सेठजी

निराश पति और अतृप्त युवती में ऐसा मेल, मानों चिरकाल से बिछुड़े हुए दो साथी फिर मिल गये हों। जीवन का वसंत विकास, संगीत और सौरभ से भरा हुआ आया ; मगर अफ़सोस ! पाँच वर्षों के अल्पकाल में उसका भी अंत हो गया। वह मधुर स्वप्न निराशा से भरी हुई जागृति में लीन हो गया। वह सेवा और व्रत की देवी तीन साल की सुलोचना को उनकी गोद में सौंपकर सदा के लिए सिधार गई।

कुँवर साहब ने इस प्रेमादेश का इतने अनुराग से पालन किया कि देखनेवालों को आश्चर्य होता था। कितने ही तो उन्हें पागल समझते थे। सुलोचना ही की नींद सोते, उसी की नींद जागते, खुद पढ़ाते, उसके साथ सैर करते—इतनी एकाग्रता के साथ, जैसे कोई विधवा अपने अनाथ बच्चे को पाले।

जब से वह यूनिवर्सिटी में दाख़िल हुई, उसे खुद मोटर में पहुँचा आते और शाम को खुद जाकर ले आते। वह उसके माथे पर से वह कलंक धो डालना चाहते थे, जो मानों विधाता के क्रूर हाथों ने लगा दिया था। धन तो उसे न धो सका, शायद विद्या धो डाले।

एक दिन शाम को कुँअर साहब ज़ुहरा के मज़ार को फूलों से सजा रहे थे और सुलोचना कुछ दूर पर खड़ी अपने कुत्ते को गेंद खेला रही थी कि सहसा उसने अपने कालेज के प्रोफ़ेसर डाक्टर रामेन्द्र को आते देखा। सकुचाकर मुँह फेर लिया, मानों उन्हें देखा ही नहीं। शंका हुई कहीं रामेन्द्र इस मज़ार के विषय में कुछ पूछ न बैठें।

यूनिवर्सिटी में दाखिल हुए उसे एक साल हुआ। इस एक साल में उसने प्रणय के विविध रूपों को देख लिया था। कहीं क्रीड़ा थी, कहीं विनोद था, कहीं कुत्सा थी, कहीं लालसा थी, कहीं उच्छृंखलता थी ; किन्तु कहीं वह सहृदयता न थी, जो प्रेम का मूल है। केवल रामेन्द्र ही एक ऐसे सज्जन थे, जिन्हें अपनी ओर ताकते देखकर उसके हृदय में सनसनी होने लगती थी ; पर उनकी आँखों में कितनी विवशता, कितना पराजय, कितनी वेदना छिपी होती थी।

रामेन्द्र ने कुँअर साहब की ओर देखकर कहा—तुम्हारे बाबा इस क़ब्र पर क्या कर रहे हैं ?

सुलोचना का चेहरा कानों तक लाल हो गया। बोली—यह इनकी पुरानी आदत है।

रामेन्द्र—किसी महात्मा की समाधि है ?

सुलोचना ने इस सवाल को उड़ा देना चाहा। रामेन्द्र यह तो जानते थे कि सुलोचना कुँवर साहब की दाश्ता औरत की लड़की है ; पर उन्हें यह न मालूम था कि यह उसी की क़ब्र है और कुँवर साहब अतीत प्रेम के इतने सच्चे उपासक हैं। मगर यह प्रश्न उन्हों ने बहुत धीमे स्वर में न किया था। कुँवर साहब जूते पहन रहे थे। यह प्रश्न उनके कान में पड़ गया। जल्दी से जूता पहन लिया और समीप आकर बोले—संसार की आँखों में तो वह महात्मा न थीं ; पर मेरी आँखों में थीं और हैं। यह मेरे प्रेम की समाधि है।

सुलोचना की इच्छा होती थी, यहाँ से भाग जाऊँ; लेकिन कुँवर साहब को जुहरा के यशोगान में आत्मिक आनन्द मिलता था। रामेन्द्र का विस्मय देखकर बोले—इसमें वह देवी सो रही है, जिसने मेरे जीवन को स्वर्ग बना दिया था। यह सुलोचना उसी का प्रसाद है।

रामेन्द्र ने क़ब्र की तरफ देखकर आश्चर्य से कहा—अच्छा!

कुँवर साहब ने मन में उस प्रेम का आनन्द उठाते हुए कहा—वह जीवन ही और था, प्रोफेसर साहब। ऐसी तपस्या मैंने और कहीं नहीं देखी। आप को फ़ुरसत हो, तो मेरे साथ चलिए। आप को उन यौवन स्मृतियों.........

सुलोचना बोल उठी—वह सुनाने की चीज़ नहीं है दादा।

कुँअर—मैं रामेन्द्र बाबू को ग़ैर नहीं समझता।

रामेन्द्र को प्रेम का यह अलौकिक रूप मनोविज्ञान का एक रत्न-सा मालूम हुआ। वह कुँअर साहब के साथही उनके घर आये और कई घन्टे तक उन हसरत में डूबी हुई प्रेम-स्मृतियों को सुनते रहे।

जो वरदान माँगने के लिए उन्हें साल भर से साहस न होता था, दुबधे में पड़कर रह जाते थे, वह आज उन्होंने माँग लिया।

(३)

लेकिन विवाह के बाद रामेन्द्र को नया अनुभव हुआ। महिलाओं का आना-जाना प्रायः बन्द हो गया। इसके साथ ही मर्द दोस्तों की आमद़रफ्त बढ़ गई। दिन भर उनका ताँता लगा रहता

था। सुलोचना उनके आदर सत्कार में लगी रहती। पहले एक-दो महीने तक तो रामेन्द्र ने इधर ध्यान नहीं दिया; लेकिन जब कई महीने गुज़र गए और स्त्रियों ने बहिष्कार का त्याग न किया, तो उन्होंने एक दिन सुलोचना से कहा—यह लोग आजकल अकेले ही आते हैं!

सुलोचना ने धीरे से कहा—हाँ, देखती तो हूँ।

रामेन्द्र—इनकी औरतें तो तुमसे परहेज़ नहीं करतीं?

सुलोचना—शायद करती हों।

रामेन्द्र—मगर ये लोग तो विचारों के बड़े स्वाधीन हैं। इनकी औरतें भी शिक्षित हैं, फिर यह क्या बात है?

सुलोचना ने दबी ज़बान में कहा—मेरी समझ में कुछ नहीं आता।

रामेन्द्र ने कुछ देर असमंजस में पड़कर कहा—हम लोग किसी दूसरी जगह चले जायँ, तो क्या हर्ज? वहाँ तो कोई हमें न जानता होगा।

सुलोचना ने अबकी तीव्र स्वर में कहा—दूसरी जगह क्यों जायँ। हमने किसी का कुछ बिगाड़ा नहीं है, किसी से कुछ माँगते नहीं। जिसे आना हो आवे, न आना हो न आवे। मुँह क्यों छिपाएँ।

धीरे-धीरे रामेन्द्र पर एक और रहस्य खुलने लगा, जो महिलाओं के व्यवहार से कहीं अधिक घृणास्पद और अपमान जनक था। रामन्द्र को अब मालूम होने लगा कि ये महाशय जो आते

हैं और घंटों बैठे सामाजिक और राजनैतिक प्रश्नों पर बहसें किया करते हैं, वास्तव में विचार-विनिमय के लिए नहीं; बल्कि रूप की उपासना के लिए आते हैं। उनकी आँखें सुलोचना को खोजती रहती हैं। उनके कान उसी की बातों की ओर लगे रहते हैं। उसकी रूप-माधुरी का आनन्द उठाना ही उनका अभीष्ट है। यहाँ उन्हें वह संकोच नहीं होता, जो किसी भले आदमी की बहू बेटी की ओर आँखें नहीं उठने देता। शायद वे सोचते, यहाँ उन्हें कोई रोक टोक नहीं है।

कभी-कभी जब रामेन्द्र की अनुपस्थिति में कोई महाशय आ जाते, तो सुलोचना को बड़ी कठिन परीक्षा का सामना करना पड़ता। वे अपनी चितवनों से, अपने कुत्सित संकेतों से, अपनी रहस्यपूर्ण बातों से, अपनी लम्बी साँसों से उसे दिखाना चाहते थे, कि हम भी तुम्हारी कृपा के भिखारी हैं; अगर रामेन्द्र का तुम पर सोलहों आना अधिकार है, तो थोड़ी-सी दक्षिणा के अधिकारी हम भी हैं। सुलोचना उस वक्त ज़हर का घूँट पीकर रह जाती।

अब तक रामेन्द्र और सुलोचना दोनों क्लब जाया करते थे। वहाँ उदार सज्जनों का अच्छा जमघट रहता था। जब तक रामेन्द्र को किसी की ओर से सन्देह न था, वह उसे आग्रह करके अपने साथ ले जाते थे। सुलोचना के पहुँचते ही वहाँ एक स्फूर्ति-सी उत्पन्न हो जाती थी। जिस मेज़ पर सुलोचना बैठती, उसे लोग घेर लेते थे। कभी-कभी सुलोचना गाती भी थी। उस वक्त सब के सब उन्मत्त हो जाते।

क्लब में महिलाओं की संख्या अधिक न थी। मुश्किल से ५-६ लेडियाँ आती थीं; मगर वे भी सुलोचना से दूर-दूर रहती थीं, बल्कि अपनी भावभंगियों और कटाक्षों से वे उसे जता देना चाहती थीं कि तुम पुरुषों का दिल खुश करो, हम कुल वधुओं के पास तुम नहीं आ सकतीं।

लेकिन जब रामेन्द्र पर इस कटु सत्य का प्रकाश हुआ, तो उन्होंने क्लब जाना छोड़ दिया, मित्रों के यहाँ आना-जाना भी कम कर दिया और अपने यहाँ आनेवालों की भी उपेक्षा करने लगे। वह चाहते थे, कि मेरे एकांतवास में कोई विघ्न न डाले। आखिर उन्होंने बाहर आना-जाना छोड़ दिया। अपने चारों ओर छल-कपट का जाल-सा बिछा हुआ मालूम होता था, किसी पर विश्वास न कर सकते थे, किसी से सद्व्यवहार की आशा नहीं। सोचते—ऐसे धूर्त, कपटी, दोस्तों की आड़ में गला काटनेवाले आदमियों से मिलें ही क्यों ?

वे स्वभाव से मिलनसार आदमी थे। पक्के यारबास। यह एकांतवास, जहाँ न कोई सैर थी, न विनोद, न कोई चहल-पहल, उनके लिए कठिन कारावास से कम न था। यद्यपि कर्म और वचन से सुलोचना की दिलजोई करते रहते थे; लेकिन सुलोचना की सूक्ष्म और सशंक आँखों से अब यह बात छिपी न थी, कि यह अवस्था इनके लिए दिन-दिन असह्य होती जाती है। वह दिल में सोचती—इनकी यह दशा मेरे ही कारण तो है, मैं ही तो इनके जीवन का काँटा हो गई !

एक दिन उसने रामेन्द्र से कहा—आजकल क्लब क्यों नहीं चलते ? कई सप्ताह हुए घर से निकले तक नहीं।

रामेन्द्र ने बे दिली से कहा—मेरा जी कहीं जाने को नहीं चाहता। अपना घर सबसे अच्छा।

सुलोचना—जी तो ऊबता ही होगा। मेरे कारण यह तपस्या क्यों करते हो ? मैं तो न जाऊँगी। उन स्त्रियों से मुझे घृणा होती है। उनमें एक भी ऐसी नहीं, जिसके दामन पर काले दाग़ नहीं; लेकिन सब सीता बनी फिरती हैं। मुझे तो उनकी सूरत से चिढ़ हो गई है; मगर तुम क्यों नहीं जाते ? कुछ दिल ही बहल जायगा।

रामेन्द्र—दिल नहीं पत्थर बहलेगा। जब अन्दर आग लगी हुई हो, तो बाहर शाँति कहाँ ?

सुलोचना चौंक पड़ी। आज कई बार उसने रामेन्द्र के मुँह से ऐसी बात सुनी। वह अपने ही को बहिष्कृत समझती थी। अपना अनादर जो कुछ था, उसका था। रामेन्द्र के लिये तो अब भी सब दरवाज़े खुले हुए थे। वह जहाँ चाहें जा सकते हैं, जिनसे चाहें मिल सकते हैं, उनके लिये कौन-सी रुकावट है; लेकिन नहीं, अगर उन्होंने किसी कुलीन स्त्री से विवाह किया होता, तो उनकी यह दशा क्यों होती ? प्रतिष्ठित घरानों की औरतें आतीं, आपस में मैत्री बढ़ती, जीवन सुख से कटता, रेशम-में-रेशम का पैबन्द लग जाता। अब तो उसमें टाट का पैबन्द लग गया। मैंने आकर सारे तालाब को गन्दा कर दिया। उसके मुख पर उदासी छा गई।

रामेन्द्र को भी तुरन्त मालूम होगया कि उनकी ज़बान से एक

ऐसी बात निकल गई, जिसके दो अर्थ हो सकते हैं। उन्होंने फौरन बात बनाई, क्या तुम समझती हो कि हम और तुम अलग-अलग हैं। हमारा और तुम्हारा जीवन एक है। जहाँ तुम्हारा आदर नहीं, वहाँ मैं कैसे जा सकता हूँ ? फिर मुझे भी समाज के इन रंगे सियारों से घृणा हो रही है। मैं इन सबों के कच्चे-चिट्ठे जानता हूँ। पद, या उपाधि, या धन से किसी की आत्मा शुद्ध नहीं हो जाती। जो ये लोग करते हैं, वह अगर कोई नीचे दरजे का आदमी करता, उसे कहीं मुँह दिखाने की हिम्मत न होती ; मगर यह लोग अपनी सारी बुराइयाँ उदारतावाद के पर्दे में छिपाते हैं। इन लोगों से दूर रहना ही अच्छा।

सुलोचना का चित्त शांत हो गया।

(४)

दूसरे साल सुलोचना की गोद में एक चाँद-सी बालिका का उदय हुआ। उसका नाम रक्खा गया शोभा। कुँवर साहब का स्वास्थ्य इन दिनों कुछ अच्छा न था। मँसूरी गये हुए थे। यह ख़बर पाते ही रामेन्द्र को तार दिया कि जच्चा और बच्चा को लेकर यहाँ आ जाओ।

लेकिन रामेन्द्र इस अवसर पर न जाना चाहते थे। अपने मित्रों की सज्जनता और उदारता की अंतिम परीक्षा लेने का इससे अच्छा और कौन-सा अवसर हो सकता था। सलाह हुई, एक शानदार दावत दी जाय। प्रोग्राम में संगीत भी शामिल था। कई अच्छे-अच्छे गवैये बुलाये गये ; अँगरेज़ी, हिन्दुस्तानी, मुसलमानी सभी प्रकार के भोजनों का प्रबन्ध किया गया।

कुँअर साहब गिरते-पड़ते मंसूरी से आये। उसी दिन दावत थी। नियत समय पर निमंत्रित लोग एक-एक करके आने लगे। कुँअर साहब स्वयं उनका स्वागत कर रहे थे। ख़ाँ साहब आये, मिर्ज़ा साहब आए, मीर साहब आए; मगर पंडितजी और बाबू-जी और लाला साहब और चौधरी साहब और कक्कड़, मेहरा और चोपड़ा, कौल और हुक्कू, श्रीवास्तव और खरे किसी का पता न था।

यह सभी लोग होटलों में सब कुछ खाते थे, अंडे और शराब उड़ाते थे—इस विषय में किसी तरह का विवेक या विचार न करते थे। फिर आज क्यों तशरीफ़ नहीं लाए? इसलिए नहीं कि छूत-छात का विचार था; बल्कि इसलिए कि वह अपनी उपस्थिति को इस विवाह के समर्थन की सनद समझते थे और यह सनद देने को उनकी इच्छा न थी।

दस बजे रात तक कुँवर साहब फाटक पर खड़े रहे। जब उस वक्त तक कोई न आया, तो, कुँअर साहब ने आकर रामेन्द्र से कहा—अब लोगों का इंतज़ार फ़ज़ूल है। मुसलमानों को खिला दो और बाक़ी सामान ग़रीबों को दिला दो।

रामेन्द्र एक कुर्सी पर हत् बुद्धि से बैठे हुए थे। कुंठित स्वर में बोले—जी हाँ, यही तो मैं भी सोच रहा हूँ।

कुँवर—मैंने तो पहले ही समझ लिया था।

रामेन्द्र—कितनी बड़ी तौहीन हुई।

कुँवर—हमारी तौहीन नहीं हुई। ख़ुद उन लोगों की कलई खुल गई।

रामेन्द्र—खैर, परीक्षा तो हो गई। कहिए तो अभी जाकर एक-एक की खबर लूँ।

कुँवर साहब ने विस्मित होकर कहा—क्या उनके घर जाकर ?

रामेन्द्र—जी हाँ। पूछूँ, कि आप लोग जो समाज-सुधार का राग अलापते फिरते हैं, वह किस बल पर।

कुँवर—व्यर्थ है। जाकर आराम से लेटो। नेक व बद की सब से बड़ी पहचान अपना दिल है। अगर हमारा दिल गवाही दे कि यह काम बुरा नहीं, तो फिर सारी दुनियाँ मुँह फेर ले, हमें किसी की परवा न करनी चाहिये।

रामेन्द्र—लेकिन मैं इन लोगों को यों न छोड़ूँगा—एक-एक का बखिया उधेड़ कर न रख दूँ, तो नाम नहीं।

यह कहकर उन्होंने पत्तल और शकोरे उठवा-उठवाकर कंगलों को देना शुरू किया।

(५)

रामेन्द्र सैर करके लौटे ही थे, कि वेश्याओं का एक दल सुलोचना को बधाई देने के लिए आ पहुँचा। जुहरा की एक सगी भतीजी थी, गुलनार। सुलोचना के यहाँ पहले बराबर आती-जाती थी। इधर दो साल से न आई थी। यह उसी का बधावा था। दरवाजे पर अच्छी खासी भीड़ हो गई थी। रामेन्द्र ने यह शोर-गुल सुना, तो बाहर आए। गुलनार ने आगे बढ़कर उन्हें सलाम किया और बोली—बाबूजी, बेटी मुबारक, बधावा लाई हूँ।

रामेन्द्र पर मानों लकवा-सा गिर गया। सिर झुक गया और

चेहरे पर कालिमा-सी पुत गई। न मुँह से बोले, न किसी को बैठने का इशारा किया, न वहाँ से हिले। बस मूर्तिवत् खड़े रह गये। एक बाज़ारी औरत से नाता पैदा करने का खयाल इतना लज्जास्पद था, इतना जघन्य, कि उसके सामने सज्जनता भी मौन रह गई। इतना शिष्टाचार भी न कर सके कि सबों को कमरे में ले जाकर बिठा तो देते। आज पहली ही बार उन्हें अपने अधःपतन का अनुभव हुआ। मित्रों की कुटिलता और महिलाओं की उपेक्षा को वह उनका अन्याय समझते थे, अपना अपमान नहीं; लेकिन यह बधावा उनकी अबाध्य उदारता के लिए भी भारी था।

सुलोचना का जिस वातावरण में पालन-पोषण हुआ था, वह एक प्रतिष्ठित हिन्दू कुल का वातावरण था। यह सच है कि अब भी सुलोचना नित्य ज़ुहरा के मज़ार की परिक्रमा करने जाती थी; मगर ज़ुहरा अब एक पवित्र स्मृति थी, दुनिया की मलिनताओं और कलुषताओं से रहित। गुलनार से नातेदारी और परस्पर का निबाह दूसरी बात थी। जो लोग तसवीरों के सामने सिर झुकाते हैं, उन पर फूल चढ़ाते हैं, वे भी तो मूर्ति-पूजा की निन्दा करते हैं। एक स्पष्ट है, दूसरा सांकेतिक; एक प्रत्यक्ष है, दूसरा आँखों से छिपा हुआ।

सुलोचना अपने कमरे में चिक की आड़ में खड़ी रामेन्द्र का असमंजस और क्षोभ देख रही थी। जिस समाज को उसने अपना उपास्य बनाना चाहा था, जिसके द्वार पर सिजदे करते उसे बरसों हो गये थे, उसकी तरफ़ से निराश होकर, उसका हृदय

इस समय उससे विद्रोह करने पर तुला हुआ था । उसके जी में आता था—गुलनार को बुलाकर गले लगा लूँ। जो लोग मेरी बात भी नहीं पूछते, उनकी खुशामद क्यों करूँ ? यह बेचारियाँ इतनी दूर से आई हैं, मुझे अपना ही समझकर तो ; उनके दिल में प्रेम तो है, यह मेरे दुःख-सुख में शरीक होने को तैयार तो हैं ।

आखिर रामेन्द्र ने सिर उठाया और शुष्क मुसकान के साथ गुलनार से बोले—आइए, आप लोग अन्दर चली आइए। यह कहकर वह आगे-आगे रास्ता दिखाते हुए दीवानखाने की ओर चले कि सहसा महरी निकली और गुलनार के हाथ में एक पुर्जा देकर चली गई। गुलनार ने वह पुर्जा लेकर देखा और उसे रामेन्द्र के हाथ में देकर वहीं खड़ी हो गई । रामेन्द्र ने पुर्जा देखा, लिखा—बहन गुलनार, तुम यहाँ नाहक़ आईं। हम लोग योंही बदनाम हो रहे हैं। अब और बदनाम मत करो, बधावा वापस ले जाओ। कभी मिलने का जी चाहे, तो रात को आना और अकेली। मेरा जी तुम्हारे गले लिपटकर रोने के लिए तड़प रहा है ; मगर मजबूर हूँ।

रामेन्द्र ने पुरज़ा फाड़कर फेंक दिया और उद्दंड होकर बोले—इन्हें लिखने दो। मैं किसी से नहीं डरता। अन्दर आओ।

गुलनार ने एक क़दम पीछे फिरकर कहा—नहीं बाबूजी, अब हमें आज्ञा दीजिये।

रामेन्द्र—एक मिनट तो बैठो।

गुलनार—जी नहीं। एक सिकिंड भी नहीं।

(६)

गुलनार के चले जाने के बाद रामेन्द्र अपने कमरे में जा बैठे। जैसा पराजय उन्हें आज हुआ, वैसा पहले कभी नहीं हुआ। वह आत्माभिमान, वह सच्चा क्रोध, जो अन्याय के ज्ञान से पैदा होता है, लुप्त हो गया था। उसकी जगह लज्जा थी और ग्लानि। इसे बधावे की क्यों सूझ गई। यों तो कभी आती-जाती न थी, आज न जाने कहाँ से फट पड़ी। कुँअर साहब होंगे इतने उदार। उन्होंने जुहरा के नातेदारों से भाई चारे का निबाह किया होगा, मैं इतना उदार नहीं हूँ। कहीं सुलोचना छिपकर इसके पास आती-जाती तो नहीं? लिखा भी तो है कि मिलने का जी चाहे, तो रात को आना और अकेली—क्यों न हो, खून तो वही है, मनोवृत्ति वही, विचार वही, आदर्श वही, आत्मा वही। माना, कुँवर साहब के घर में पालन-पोषण हुआ; मगर रक्त का प्रभाव इतनी जल्द नहीं मिट सकता। अच्छा, दोनों बहनें मिलती होंगी, तो उनमें क्या बातें होती होंगी? इतिहास या नीति की चर्चा तो हो नहीं सकती। वही निर्लज्जता की बातें होती होंगी। गुलनार अपना वृत्तांत कहती होगी, उस बाज़ार के खरीदारों और दूकानदारों के गुण-दोषों पर बहस होती होगी। यह तो होही नहीं सकता कि गुलनार इसके पास आते ही अपने को भूल जाय और कोई भद्दी अनर्गल और कलुषित बातें न करे।

एक क्षण में उनके विचारों ने पलटा खाया; मगर आदमी बिना किसी से मिले-जुले रह भी तो नहीं सकता, यह भी तो एक

तरह की भूख है। भूख में अगर शुद्ध भोजन न मिले, तो आदमी जूठी खाने से भी परहेज़ नहीं करता। अगर इन लोगों ने सुलोचना को अपनाया होता, उसका यों बहिष्कार न करते, तो उसे क्यों ऐसे प्राणियों से मिलने की इच्छा होती। इसका कोई दोष नहीं, यह सारा दोष परिस्थितियों का है, जो हमारे अतीत की याद दिलाती रहती हैं।

रामेन्द्र इन्हीं विचारों में पड़े हुए थे कि कुँअर साहब आ पहुँचे और कटुस्वर में बोले—मैंने सुना गुलनार अभी बधावा लाई थी, तुमने उसे लौटा दिया?

रामेन्द्र का विरोध सजीव हो उठा। बोले—मैंने तो नहीं लौटाया, सुलोचना ने लौटाया; पर मेरे खयाल में अच्छा किया।

कुँअर—तो यह कहो, तुम्हारा इशारा था। तुमने इन पतितों को अपनी ओर खींचने का कितना अच्छा अवसर हाथ से खो दिया है! सुलोचना को देखकर जो कुछ असर पड़ा, वह तुमने मिटा दिया। बहुत संभव था कि एक प्रतिष्ठित आदमी से नाता रखने का अभिमान उसके जीवन में एक नए युग का आरम्भ करता; मगर तुमने इन बातों पर ज़रा भी ध्यान न दिया।

रामेन्द्र ने कोई जवाब न दिया। कुँअर साहब ज़रा उत्तेजित होकर बोले—आप लोग यह क्यों भूल जाते हैं कि हरेक बुराई मजबूरी से होती है। चोर इसलिये चोरी नहीं करता कि चोरी में उसे विशेष आनन्द आता है; बल्कि केवल इसलिये कि ज़रूरत उसे मजबूर करती है। हाँ, वह ज़रूरत वास्तविक है या काल्पनिक

इसमें मतभेद हो सकता है। स्त्री के मैके जाते समय कोई गहना बनवाना एक आदमी के लिए ज़रूरी हो सकता है, दूसरे के लिए बिलकुल ग़ैर ज़रूरी। क्षुधा से व्यथित होकर एक आदमी अपना ईमान खो सकता है, दूसरा मर जायगा ; पर किसी के सामने हाथ न फैलाएगा ; पर प्रकृति का यह नियम आप जैसे विद्वानों को न भूलना चाहिए कि जीवन-लालसा प्राणीमात्र में व्यापक है। ज़िन्दा रहने के लिए आदमी सब कुछ कर सकता है। जिन्दा रहना जितना ही कठिन होगा, बुराइयाँ भी उसी मात्रा से बढ़ेंगी, जितना ही आसान होगा उतनी ही बुराइयाँ कम होंगी। हमारा यह पहला सिद्धान्त होना चाहिए कि ज़िन्दा रहना हरेक के लिए सुलभ हो। रामेन्द्र बाबू, आपने इस वक़्त इन लोगों के साथ वही व्यवहार किया, जो दूसरे आप के साथ कर रहे हैं और जिससे आप बहुत दुःखी हैं।

रामेन्द्र ने इस लम्बे व्याख्यान को इस तरह सुना, जैसे कोई पागल बक रहा हो। इस तरह की दलीलों का वह खुद कितनी ही बार समर्थन कर चुके थे ; पर दलीलों से व्यथित अङ्ग की पीड़ा नहीं शान्त होती। पतित स्त्रियों का नातेदार की हैसियत से द्वार पर आना इतना अपमान-जनक था कि रामेन्द्र किसी दलील से पराभूत होकर उसे भूल न सकते थे। बोले—मैं ऐसे प्राणियों से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहता। यह विष अपने घर में नहीं फैलाना चाहता।

सहसा सुलोचना भी कमरे में आ गई। प्रसवकाल का असर अभी बाक़ी था ; पर उत्तेजना ने चेहरे को आरक्त कर रखा था।

रामेन्द्र सुलोचना को देखकर और तेज़ हो गये। वह उसे जता देना चाहते थे, कि इस विषय में मैं एक रेखा तक जा सकता हूँ, उसके आगे किसी तरह नहीं जा सकता। बोले—मैं यह कभी पसन्द न करूँगा कि कोई बाज़ारी औरत किसी वक्त और किसी भेष में मेरे घर आये। रात को अकेले या सूरत बदलकर आने से इस बुराई का असर नहीं मिट सकता। मैं समाज के दण्ड से नहीं डरता, इस नैतिक विष से डरता हूँ।

सुलोचना अपने विचार में मर्यादा-रक्षा के लिए काफ़ी आत्म-समर्पण कर चुकी थी। उसकी आत्मा ने अभी तक उसे क्षमा न किया था। तीव्र स्वर में बोली—क्या तुम चाहते हो कि मैं इस क़ैद में अकेले जान दे दूँ? कोई तो हो जिससे आदमी हँसे, बोले!

रामेन्द्र ने गर्म होकर कहा—हँसने बोलने का इतना शौक था, तो मेरे साथ विवाह न करना चाहिए था। विवाह का बन्धन बड़ी हद तक त्याग का बन्धन है। जब तक संसार में इस विधान का राज्य है, और स्त्री कुलमर्याद की रक्षक समझी जाती है, उस वक्त तक कोई मर्द यह स्वीकार न करेगा कि उसकी पत्नी बुरे आचरण के प्राणियों से किसी प्रकार का संसर्ग रक्खे।

कुँअर साहब समझ गये कि इस वादविवाद से रामेन्द्र और भी ज़िद पकड़ लेंगे, और मुख्य विषय लुप्त होजायगा; इसलिये नम्र स्वर में बोले—लेकिन बेटा, यह क्यों ख़याल करते हो कि एक ऊँचे दरजे की पढ़ी-लिखी स्त्री दूसरों के प्रभाव में आ जायगी, अपना प्रभाव न डालेगी?

रामेन्द्र—इस विषय में शिक्षा पर मेरा विश्वास नहीं। शिक्षा ऐसी कितनी ही बातों को मानती है, जो रीति-नीति और परम्परा की दृष्टि से त्याज्य हैं। अगर पाँव फिसल जाय, तो हम उसे काट-कर फेंक नहीं देते ; पर मैं इस analogy के सामने सिर झुकाने को तैयार नहीं हूँ। मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि मेरे साथ रहकर पुराने सम्बन्धों का त्याग करना पड़ेगा। इतना ही नहीं, मन तो ऐसा बना लेना पड़ेगा कि ऐसे लोगों से उसे खुद घृणा हो। हमें इस तरह अपना संस्कार करना पड़ेगा कि समाज अपने अन्याय पर लज्जित हो, न यह कि हमारे आचरण ऐसे भ्रष्ट होजायँ कि दूसरों की निगाह में यह तिरस्कार औचित्य का स्थान पा जाय।

सुलोचना ने उद्धत होकर कहा—स्त्री इसके लिये मजबूर नहीं है कि वह आपकी आँखों से देखे और आपके कानों से सुने। उसे यह निश्चय करने का अधिकार है कि कौन-सी चीज़ उसके हित की है, कौन-सी नहीं।

कुँअर साहब भयभीत होकर बोले—सिल्लो, तुम भूली जाती हो कि बातचीत में हमेशा मुलायम शब्दों का व्यवहार करना चाहिये। हम झगड़ा नहीं कर रहे हैं, केवल एक-एक प्रश्न पर अपने-अपने विचार प्रकट कर रहे हैं।

सुलोचना ने निर्भीकता से कहा—जी नहीं, मेरे लिये बेड़ियाँ तैयार की जा रही हैं। मैं इन बेड़ियों को नहीं पहन सकती। मैं अपनी आत्मा को उतना ही स्वाधीन समझती हूँ, जितना कोई मर्द समझता है।

रामेन्द्र ने अपनी कठोरता पर कुछ लज्जित होकर कहा—मैंने तुम्हारी आत्मा की स्वाधीनता को छीनने की कभी इच्छा नहीं की। और न मैं इतना विचारहीन हूँ। शायद तुम भी इसका समर्थन करोगी; लेकिन क्या तुम्हें विपरीत मार्ग पर चलते देखूँ, तो मैं समझा भी नहीं सकता?

सुलोचना—उसी तरह, जैसे मैं तुम्हें समझा सकती हूँ। तुम मुझे मजबूर नहीं कर सकते।

रामेन्द्र—मैं इसे नहीं मान सकता।

सुलोचना—अगर मैं अपने किसी नातेदार से मिलने जाऊँ, तो आपकी इज्ज़त में बट्टा लगता है। क्या इसी तरह आप यह स्वीकार करेंगे कि आपका व्यभिचारियों से मिलना-जुलना मेरी इज्ज़त में दाग़ लगाता है?

रामेन्द्र—हाँ, मैं यह मानता हूँ।

सुलोचना—आपका कोई व्यभिचारी भाई आजाय, तो आप उसे दरवाज़े से भगा देंगे?

रामेन्द्र—तुम मुझे इसके लिए मजबूर नहीं कर सकतीं।

सुलोचना—और आप मुझे मजबूर कर सकते हैं?

'बेशक!'

'क्यों!'

'इसीलिए कि मैं पुरुष हूँ, इस छोटे से परिवार का मुख्य अंग हूँ। इसलिये कि तुम्हारे ही कारण मुझे......रामेन्द्र कहते-कहते रुक गए; पर सुलोचना उनके मुँह से निकलनेवाले शब्दों को ताड़

गई। उसका चेहरा तमतमा उठा, मानों छाती में बरछी-सी लग गई। मनमें ऐसा उद्वेग उठा कि इसी क्षण यह घर छोड़कर, सारी दुनिया से नाता तोड़कर चली जाऊँ और फिर इन्हें कभी मुँह न दिखाऊँ। अगर इसी का नाम विवाह है कि किसी की मर्ज़ी की ग़ुलाम होकर रहूँ, अपमान सहन करूँ, तो ऐसे विवाह को दूर ही से सलाम है।

वह तैश में आकर कमरे से निकलना चाहती थी कि कुँअर साहब ने लपक कर उसे पकड़ लिया और बोले—क्या करती हो बेटी, घर में जाओ, क्यों रोती हो? अभी तो मैं जीता हूँ, तुम्हें क्या ग़म है! रामेन्द्र बाबू ने कोई ऐसी बात नहीं कही और न कहनी चाहते थे। फिर आपस की बातों का क्या बुरा मानना, किसी अवसर पर तुम भी जो जी में आये कह लेना।

यों समझाते हुए कुँअर साहब उसे अन्दर ले गये। वास्तव में सुलोचना कभी ग़ुलनार से मिलने की इच्छुक न थी। वह उससे स्वयं भागती थी। एक क्षणिक आवेश में उसने ग़ुलनार को वह पुरज़ा लिख दिया था। मन में वह स्वयं समझती थी, कि इन लोगों से मेल-जोल रखना मुनासिब नहीं; लेकिन रामेन्द्र ने यह विरोध किया, यही उसके लिये असह्य था। यह मुझे मना क्यों करें? क्या मैं इतना भी नहीं समझती? क्या इन्हें मेरी ओर से इतनी शङ्का है! इसीलिये तो, कि मैं कुलीन नहीं हूँ!

मैं अभी-अभी, ग़ुलनार से मिलने जाऊँगी, ज़िद्दन जाऊँगी; देखूँ मेरा क्या करते हैं।

लाड़-प्यार में पली हुई सुलोचना को कभी किसी ने तीखी आँखों से भी न देखा था। कुँअर साहब उसकी मर्ज़ी के गुलाम थे। रामेन्द्र भी इतने दिनों उसका मुँह जोहते रहे। आज अकस्मात यह तिरस्कार और फटकार पाकर उसकी स्वेच्छा प्रेम और आत्मीयता के सारे नातों को पैरों से कुचल डालने के लिये विकल हो उठी। वह सब कुछ सह लेगी; पर यह धौंस, यह अन्याय, यह अपमान, उससे न सहा जायगा।

उसने खिड़की से सिर निकाल कर कोचवान को पुकारा और बोली—गाड़ी लाओ, मुझे चौक जाना है, अभी लाओ।

कुँअर साहब ने चुमकार कर कहा—बेटी सिल्लो, क्या करती हो, मेरे ऊपर दया करो। इस वक्त कहीं मत जाओ, नहीं हमेशा के लिये पछताना पड़ेगा। रामेन्द्र बाबू भी बड़े गुस्सेवर आदमी हैं। फिर तुमसे बड़े हैं, ज्यादा विचारवान हैं, उन्हीं का कहना मान जाओ। मैं तुमसे सच कहता हूँ। तुम्हारी माँ जब थीं, तो कई बार ऐसी नौबत आई कि मैंने उससे कहा—घर से निकल जाओ; पर उस प्रेम की देवी ने कभी ड्योढ़ी के बाहर पाँव नहीं निकाला। इस वक्त धैर्य से काम लो। मुझे विश्वास है, ज़रा देर में रामेन्द्र बाबू खुद लज्जित होकर तुम्हारे पास अपना अपराध क्षमा कराने आयेंगे।

सहसा रामेन्द्र ने आकर पूछा—गाड़ी क्यों मँगवाई? कहाँ जा रही हो?

रामेन्द्र का चेहरा इनता क्रोधोन्मत्त हो रहा था, कि सुलोचना

सहम उठी। दोनों आँखों से ज्वाला-सी निकल रही थी। नथने फड़क रहे थे। पिंडलियाँ काँप रही थीं। यह कहने की हिम्मत न पड़ी कि गुलनार के घर जाती हूँ। गुलनार का नाम सुनते ही शायद यह मेरी गर्दन पर सवार हो जायँगे—इस भय से वह काँप उठी। आत्मरक्षा का भाव प्रबल हो गया। बोली—ज़रा अम्माँ के मज़ार तक जाऊँगी।

रामेन्द्र ने डाट कर कहा—कोई ज़रूरत नहीं वहाँ जाने की।

सुलोचना ने कातर स्वर में कहा—क्या अम्माँ के मज़ार तक जाने की भी रोक है? रामेन्द्र ने उसी ध्वनि में कहा—हाँ।

सुलोचना—तो फिर अपना घर सम्हालो, मैं जाती हूँ।

रामेन्द्र—जाओ, तुम्हारे लिये क्या, यह न सही दूसरा घर सही।

अभी तक तस्मा बाक़ी था, वह भी कट गया। यों शायद सुलोचना यहाँ से कुँअर साहब के बँगले पर जाती, दो-चार दिन रूठी रहती, फिर रामेन्द्र उसे मना लाते और मामला तै हो जाता; लेकिन इस चोट ने समझौते और संधि की जड़ काट दी। सुलोचना दरवाज़े तक पहुँची थी, वहीं चित्र-लिखित-सी खड़ी रह गई। मानों किसी ऋषि के शाप ने उसके प्राण खींच लिये हों। वहीं बैठ गई। न कुछ बोल सकी, न कुछ सोच सकी। जिसके सिर पर बिजली गिर पड़ी हो, वह क्या सोचे, क्या रोये, क्या बोले। रामेन्द्र के यह शब्द बिजली से कहीं अधिक घातक थे।

सुलोचना कब तक वहाँ बैठी रही, उसे कुछ खबर न थी।

जब उसे कुछ होश आया, तो घर में सन्नाटा छाया हुआ था। घड़ी की तरफ आँख उठी, एक बज रहा था। सामने आराम कुर्सी पर कुँअर साहब नवजात शिशु को गोद में लिये सो गये थे। सुलोचना ने उठ कर बरामदे में झाँका, रामेन्द्र अपने पलँग पर लेटे हुए थे। उसके जी में आया, इसी वक्त इन्हीं के सामने जाकर कलेजे में छुरी मार लूँ और इन्हीं के सामने तड़प-तड़प कर मर जाऊँ। वह घातक शब्द याद आ गये। इनके मुँह से ऐसे शब्द निकले क्योंकर। इतने चतुर, इतने उदार और इतने विचारशील होकर भी वह जबान पर ऐसे शब्द क्योंकर ला सके।

उसका सारा सतीत्व, भारतीय आदर्शों की गोद में पली हुई, भूमि पर आहत पड़ी हुई, अपनी दीनता पर रो रहा था। वह सोच रही थी, अगर मेरे नाम पर यह दाग़ न होता, मैं भी कुलीन होती, तो क्या यह शब्द इनके मुँह से निकल सकते थे? लेकिन मैं बदनाम हूँ, दलित हूँ, त्याज्य हूँ, मुझे सब कुछ कहा जा सकता है। उफ़ इतना कठोर हृदय! क्या वह किसी दशा में भी रामेन्द्र पर इतना कठोर प्रहार कर सकती थी।

बरामदे में बिजली की रोशनी थी। रामेन्द्र के मुख पर क्षोभ था, ग्लानि का नाम भी न था। क्रोध की कठोरता अब तक उनके मुख को विकृत किये हुए थी। शायद इन आँखों में आँसू देखकर अब भी सुलोचना के आहत हृदय को तसकीन होती; लेकिन वहाँ तो अभी तक तलवार खिंची हुई थी। उसकी आँखों में सारा संसार सूना हो गया।

सुलोचना फिर अपने कमरे में आई। कुँअर साहब की आँखें अब भी बन्द थीं। इन चंद घंटों ही में उनका तेजस्वी मुख कांति-हीन हो गया था। गालों पर आँसुओं की रेखाएँ सूख गई थीं। सुलोचना ने उनके पैरों के पास बैठकर सच्ची भक्ति के आँसू बहाये। हाय! मुझ अभागिनी के लिये इन्होंने कौन-कौन-से कष्ट नहीं झेले, कौन-कौन-से अपमान नहीं सहे, अपना सारा जीवन ही मुझ पर अर्पण कर दिया और उसका यह हृदय विदारक अन्त!

सुलोचना ने फिर बच्ची को देखा; मगर उसका गुलाब का-सा विकसित मुख देख कर भी उसके हृदय में ममता की तरंग न उठी। उसने उसकी तरफ से मुँह फेर लिया। यही उस अपमान की मूर्तिमान वेदना है, जो इतने दिनों मुझे भोगनी पड़ी। मैं इसके लिए क्यों अपने प्राण संकट में डालूँ। अगर उसके निर्दयी पिता को उसका प्रेम है, तो उसको पाले। और एक दिन वह भी उसी तरह रोये, जिस तरह आज मेरे दादा को रोना पड़ रहा है। ईश्वर अब की अगर जन्म देना, तो किसी भले आदमी के घर जन्म देना ....

जहाँ ज़ुहरा का मज़ार था उसी के बग़ल में एक दूसरा मज़ार बना हुआ है। ज़ुहरा के मज़ार पर घास जम आई है, जगह-जगह से चूना गिर गया है; लेकिन दूसरा मज़ार बहुत साफ़-सुथरा और सजा हुआ है। उसके चारों तरफ गमले रक्खे हुए हैं और मज़ार तक जाने के लिए गुलाब के बेलों की रविशें बनी हुई हैं।

शाम हो गई है। सूर्य की क्षीण, उदास, पीली किरणें मानों उस मज़ार पर आँसू बहा रही हैं। एक आदमी एक तीन-चार साल की बालिका को गोद में लिए हुए आया और उस मज़ार को अपने रूमाल से साफ़ करने लगा। रविशों में जो पत्तियाँ पड़ी थीं, उन्हें चुन कर साफ कीं और मज़ार पर सुगंध छिड़कने लगा। बालिका दौड़-दौड़ कर तितलियों को पकड़ने लगी।

यह सुलोचना का मज़ार है। उसकी आख़िरी नसीहत थी, कि मेरी लाश जलाई न जाय, मेरी माँ की बग़ल में मुझे सुला दिया जाय। कुँअर साहब तो सुलोचना के बाद छः महीने से ज्यादा न चल सके। हाँ, रामेन्द्र अपने अन्याय का पश्चात्ताप कर रहे हैं।

शोभा अब तीन साल की हो गई है और उसे विश्वास है कि एक दिन उसकी माँ इसी मज़ार से निकलेगी!

ढपोरसंख

मुरादाबाद में मेरे एक पुराने मित्र हैं, जिन्हें दिल में तो मैं एक रत्न समझता हूँ; पर पुकारता हूँ ढपोरसंख कहकर और वह बुरा भी नहीं मानते। ईश्वर ने उन्हें जितना हृदय दिया है, उसकी आधी बुद्धि दी होती, तो आज वह कुछ और होते! उन्हें हमेशा तंगदस्त ही देखा; मगर किसी के सामने कभी हाथ फैलाते नहीं देखा। हम और वह बहुत दिनों तक साथ पढ़े हैं, खासी बेतकल्लुफी है; पर यह जानते हुए भी, कि मेरे लिये सौ-पचास रुपये से उनकी मदद करना कोई बड़ी बात नहीं और मैं बड़ी खुशी से करूँगा, कभी मुझसे एक पाई के रवादार न हुए; अगर हीले से बच्चों को दो-चार रुपये दे देता हूँ, तो बिदा होते समय उसकी दुगनी रक़म के मुरादाबादी बरतन लादने पड़ते हैं। इस-लिये मैंने यह नियम बना लिया है, कि जब उनके पास जाता हूँ, तो एक-दो दिन में जितनी बड़ी-से-बड़ी चपत दे सकता हूँ, देता हूँ। मौसिम में जो मँहगी-से-मँहगी चीज़ होती है, वही खाता हूँ। और माँग-माँगकर खाता हूँ; मगर दिल का ऐसा बेहया है, कि अगर एक बार भी उधर से निकल जाऊँ और उससे न मिलूँ, तो बुरी तरह डाँट बताता है। इधर दो-तीन साल से मुलाक़ात न हुई

थी। जी देखने को चाहता था। मई में नैनीताल जाते हुए उनसे मिलने के लिये उतर पड़ा। छोटा-सा घर है, छोटा-सा परिवार, छोटा-सा डील। द्वार पर आवाज़ दी—ढपोरसंख! तुरन्त बाहर निकल आये और गले से लिपट गये। ताँगे पर से मेरे ट्रंक को उतारकर कंधे पर रक्खा, बिस्तर बग़ल में दबाया और घर में दाखिल हो गये। कहता हूँ, बिस्तर मुझे दे दो; मगर कौन सुनता है। भीतर क़दम रक्खा, तो देवीजी के दर्शन हुए। छोटे बच्चे ने आकर प्रणाम किया। बस, यही परिवार है।

कमरे में गया, तो देखा ख़तों का एक दफ्तर फैला हुआ है। ख़तों को सुरक्षित रखने की तो इनकी आदत नहीं। इतने ख़त किसके हैं! कुतूहल से पूछा—यह क्या कूड़ा फैला रक्खा है जी, समेटो।

देवीजी मुसकिराकर बोलीं—कूड़ा न कहिए, एक-एक पत्र साहित्य का रत्न है। आप तो इधर आये नहीं। इनके एक नये मित्र पैदा हो गये हैं। यह उन्हीं के कर-कमलों के प्रसाद हैं।

ढपोरसंख ने अपनी नन्ही-नन्ही आँखें सिकोड़ कर कहा—तुम उसके नाम से क्यों इतना जलती हो, मेरी समझ में नहीं आता? अगर तुम्हारे दो-चार सौ रुपये उस पर आते हैं, तो उनका देनदार मैं हूँ। वह भी अभी जीता-जागता है। किसी को बेईमान क्यों समझती हो? यह क्यों नहीं समझतीं, कि उसे अभी सुविधा नहीं है! और फिर दो-चार सौ रुपये एक मित्र के हाथों डूबही जायँ, तो क्यों रोओ। माना हम गरीब हैं, दो-चार सौ रुपये

हमारे दो-चार लाख से कम नहीं; लेकिन खाया तो एक मित्र ने!

देवीजी जितनी रूपवती थीं, उतनी ही ज़बान की तेज़ थीं। बोलीं—अगर ऐसों ही का नाम मित्र है, तो मैं नहीं समझती, शत्रु किसे कहते हैं।

ढपोरसंख ने मेरी तरफ़ देख कर, मानो मुझसे हामी भराने के लिये कहा—औरतों का हृदय बहुत ही संकीर्ण होता है।

देवीजी नारी-जाति पर यह आक्षेप कैसे सह सकती थीं। आँखें तरेरकर बोलीं—यह क्यों नहीं कहते, कि उल्लू बनाकर ले गया, ऊपर से हेकड़ी जताते हो! दाल गिर जाने पर तुम्हें भी सूखा अच्छा लगे, तो कोई आश्चर्य नहीं। मैं जानती हूँ, रुपया हाथ का मैल है। यह भी समझती हूँ, कि जिसके भाग्य का जितना होता है, उतना वह खाता है; मगर यह मैं कभी न मानूँगी, कि वह सज्जन था और आदर्शवादी था और यह था, वह था। साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहते, लम्पट था, दग़ाबाज़ था! बस, मेरा तुमसे कोई झगड़ा नहीं।

ढपोरसंख ने गर्म होकर कहा—मैं यह नहीं मान सकता। देवीजी भी गर्म होकर बोलीं—तुम्हें मानना पड़ेगा। महाशयजी आ गये हैं। मैं इन्हें पंच बदती हूँ। अगर यह कह देंगे, कि सज्जनता का पुतला था, आदर्शवादी था, वीरात्मा था, तो मैं मान लूँगी और फिर उसका नाम न लूँगी! और यदि इनका फ़ैसला मेरे अनुकूल हुआ, तो लाला तुम्हें इनको अपना बहनोई कहना पड़ेगा!

बारे देवीजी के कानों में यह जुमला न पड़ा। धीमे स्वर में कहा भी गया था, नहीं तो देवीजी ने कुछ-न-कुछ जवाब जरूर दिया होता। देवीजी चूल्हा जला चुकीं और ढपोरसंख उनकी ओर से निश्चिन्त हो गये, तो मुझसे बोले—जब तक वह रसोई में हैं, मैं सक्षेप में तुम्हें वह वृत्तान्त न सुना दूँ ?

मैंने धर्म की आड़ लेकर कहा—नहीं भाई, मैं पंच बनाया गया हूँ, और इस विषय में कुछ न सुनूँगा। उन्हें आ जाने दो।

'मुझे भय है, कि तुम उन्हीं का-सा फैसला कर दोगे और फिर वह मेरा घर में रहना अपाढ़ कर देंगी।'

मैंने ढाढ़स दिया—यह आप कैसे कह सकते हैं, मैं क्या फैसला करूँगा ?

'मैं तुम्हें जानता जो हूँ ! तुम्हारी अदालत में औरत के सामने मर्द कभी जीत ही नहीं सकता।'

'तो क्या चाहते हो तुम्हारी डिग्री कर दूँ ?'

'क्या दोस्ती का इतना हक़ भी अदा नहीं कर सकते।'

'अच्छा लो, तुम्हारी जीत होगी, चाहे गालियाँ ही क्यों न मिलें।'

खाते-पीते दोपहर होगया। रात का जागा था। सोने की इच्छा हो रही थी ; पर देवीजी कब माननेवाली थीं। भोजन करके आ पहुँचीं। ढपोरसंख ने पत्रों का पुलिन्दा समेटा और वृत्तान्त सुनाने लगे।

देवीजी ने सावधान किया—एक शब्द भी झूठ बोले, तो जुर्माना होगा।

ढपोरसंख ने गंभीर होकर कहा—झूठ वह बोलता है, जिसका पक्ष निर्बल होता है। मुझे तो अपनी विजय का विश्वास है।

इसके बाद कथा शुरू हो गई—

'दो साल से ज्यादा हुए, एक दिन मेरे पास एक पत्र आया, जिसमें साहित्य-सेवा के नाते एक ड्रामे की भूमिका लिखने की प्रेरणा की गई थी। यह करुणाकर का पत्र था। इस साहित्यिक-रीति से मेरा उनसे प्रथम परिचय हुआ। साहित्यिकारों की इस जमाने में जो दुर्दशा है, उसका अनुभव कर चुका हूँ और करता रहता हूँ, और यदि भूमिका तक बात रहे, तो मुझे उनकी सेवा करने में पसोपेश नहीं होता। मैंने तुरन्त जवाब दिया—आप ड्रामा भेज दीजिए। एक सप्ताह में ड्रामा आ गया; पर अबके पत्र में भूमिका लिखने ही की नहीं, कोई प्रकाशक ठीक कर देने की भी प्रार्थना की गई थी। मैं प्रकाशकों के झंझट में नहीं पड़ता। दो-एक बार पड़कर कई मित्रों का जानी-दुश्मन बना चुका हूँ। मैंने ड्रामे को पढ़ा, उस पर भूमिका लिखी और हस्तलिपि लौटा दी। ड्रामा मुझे सुन्दर मालूम हुआ; इसलिये भूमिका भी प्रशंसात्मक थी। कितनी ही पुस्तकों की भूमिका लिख चुका हूँ। कोई नई बात न थी; पर अबकी भूमिका लिखकर पिंड न छूटा। एक सप्ताह के बाद एक लेख आया, कि इसे अपनी पत्रिका में प्रकाशित कर दीजिए। (ढपोरसंख एक पत्रिका के सम्पादक हैं) इसे गुण कहिए

या दोष, मुझे दूसरों पर विश्वास बहुत जल्द आ जाता है और जब किसी लेखक का मुआमला हो, तो मेरी विश्वास-क्रिया और भी तीव्र हो जाती है। मैं अपने एक मित्र को जानता हूँ, जो साहित्यवालों के छाये से भागते हैं। वह खुद निपुण लेखक हैं, बड़े ही सज्जन हैं, बड़े ही जिन्दा-दिल। अपनी शादी कर के लौटने पर जब-जब रास्ते में मुझसे भेंट हुई, कहा—आपकी मिठाई रक्खी हुई है, भेजवा दूँगा; पर वह मिठाई आज तक न आई, हालाँकि अब ईश्वर की दया से विवाह-तरु में फल भी लग आये; लेकिन खैर, मैं साहित्य-सेवियों से इतना चौकन्ना नहीं रहता। इन पत्रों में इतनी विनय, इतना आग्रह, इतनी भक्ति होती थी, कि मुझे जोशी से बिना साक्षात्कार के ही स्नेह हो गया। मालूम हुआ, एक बड़े बाप का बेटा है, घर से इसलिये निर्वासित है, कि उसके चाचा दहेज की लंबी रकम लेकर उसका विवाह करना चाहते थे। यह उसे मंजूर न हुआ। इस पर चाचा ने घर से निकाल दिया। बाप के पास गया। बाप आदर्श भायप-भक्त था। उसने चाचा के फैसले की अपील न सुनी। ऐसी दशा में सिद्धान्त का मारा युवक सिवाय घर से निकल भागने के और क्या करता! यों वन-वन के पत्ते तोड़ता, द्वार-द्वार ठोकरें खाता वह ग्वालियर आ गया था। उस पर मंदाग्नि का रोगी, जीर्ण ज्वर से ग्रस्त। आप ही बतलाइए, ऐसे आदमी से क्या आपको सहानुभूति न होती? फिर जब एक आदमी, आपको 'प्रिय भाई साहब' लिखता है, अपने मनोरहस्य आपके सामने खोलकर रखता है, विपत्ति में

भी धैर्य और पुरुषार्थ को हाथ से नहीं छोड़ता, कड़े-से-कड़ा परि-श्रम करने को तैयार है, तो यदि आपमें सौजन्य का अणुमात्र भी है, तो आप उसकी मदद जरूर करेंगे !

अच्छा, अब फिर ड्रामा की तरफ़ आइए। कई दिनों के बाद जोशी का पत्र प्रयाग से आया। वह वहाँ के एक मासिक-पत्रिका के सम्पादकीय विभाग में नौकर हो गया था। यह पत्र पाकर मुझे कितना संतोष और आनन्द हुआ, कह नहीं सकता। कितना उद्य-मशील आदमी है ! उसके प्रति मेरा स्नेह और भी प्रगाढ़ हो गया। पत्रिका का स्वामी-सम्पादक सख्ती से पेश आता था, जरा-सी देर हो जाने पर दिन-भर की मजदूरी काट लेता था, बात-बात पर घुड़कियाँ जमाता था ; पर यह सत्याग्रही वीर सब कुछ सहकर भी अपने काम में लगा रहता था। अपना भविष्य बनाने का ऐसा अवसर पाकर वह उसे कैसे छोड़ देता। ये सारी बातें स्नेह और विश्वास को बढ़ानेवाली थीं। एक आदमी को कठिनाइयों का सामना करते देखकर किसे उससे प्रेम न होगा ! विश्वास न होगा, गर्व न होगा !

प्रयाग में वह ज्यादा न ठहर सका। उसने मुझे लिखा, मैं सब कुछ झेलने को तैयार हूँ, भूखों मरने को तैयार हूँ ; पर आत्मसम्मान में दाग नहीं लगा सकता, कुवचन नहीं सह सकता !

ऐसा चरित्र यदि आप पर प्रभाव न डाल सके, तो मैं कहूँगा, आप चालाक चाहे जितने हों ; पर हृदय-शून्य हैं।

एक सप्ताह के बाद प्रयाग से फिर पत्र आया—यह व्यवहार

मेरे लिये असह्य हो गया। आज मैंने इस्तीफा दे दिया। यह न समझिए, कि मैंने हलके दिल से लगी-लगाई रोज़ी छोड़ दी। मैंने वह सब किया, जो मुझे करना चाहिए था। यहाँ तक कि कुछ-कुछ वह भी किया, जो मुझे न करना चाहिए था ; पर आत्मसम्मान का खून नहीं कर सकता। अगर यह कर सकता, तो मुझे घर छोड़कर निकलने की क्या आवश्यकता थी। मैंने बम्बई जाकर अपनी किस्मत आजमाने का निश्चय किया है। मेरा दृढ़ संकल्प है, कि अपने घरवालों के सामने हाथ न फैलाऊँगा, उनसे दया की भिक्षा न माँगूँगा। मुझे कुलीगीरी करनी मंजूर है, टोकरी ढोना मंजूर है ; पर अपनी आत्मा को कलंकित नहीं कर सकता।

मेरी श्रद्धा और भी बढ़ गई। यह व्यक्ति अब मेरे लिये केवल ड्रामा का चरित्र न था, जिसके सुख से सुखी और दुख से दुःखी होने पर भी हम दर्शक ही रहते हैं। वह अब मेरे इतने निकट पहुँच गया था, कि उस पर आघात होते देखकर मैं उसकी रक्षा करने को तैयार था, उसे डूबते देखकर पानी में कूदने से भी न हिचकता।

मैं बड़ी उत्कंठा से उसके बंबई से आनेवाले पत्र का इन्तजार करने लगा। छठवें ही दिन पत्र आया। वह बम्बई में काम खोज रहा था, लिखा था—घबड़ाने की कोई बात नहीं है, मैं सब कुछ झेलने को तैयार हूँ। फिर दो-दो चार-चार दिन के अन्तर से कई पत्र आये। वह वीरों की भाँति कठिनाइयों के सामने कमर कसे खड़ा था, हालाँकि तीन दिन से उसे भोजन न मिला था!

ओह! कितना ऊँचा आदर्श है! कितना उज्ज्वल चरित्र! मैं समझता हूँ, मैंने उस समय बड़ी कृपणता की। मेरी आत्माने मुझे धिक्कारा—वह बेचारा इतने कष्ट उठा रहा है, और तुम बैठे देख रहे हो। क्यों उसके पास कुछ रुपये नहीं भेजते? मैंने आत्मा के कहने पर अमल न किया; पर अपनी बेदर्दी पर खिन्न अवश्य था।

जब कई दिन की बेचैनी भरे हुए इन्तजार के बाद यह समाचार आया, कि वह एक साप्ताहिक-पत्र के सम्पादकीय विभाग में जगह पा गया है, तो मैंने आराम की साँस ली और ईश्वर को सच्चे दिल से धन्यवाद दिया

साप्ताहिक में जोशी के लेख निकलने लगे। उन्हें पढ़कर मुझे गर्व होता था। कितने सजीव, कितने विचार से भरे लेख थे। उसने मुझसे भी लेख माँगे; पर मुझे अवकाश न था। क्षमा माँगी, हालाँकि इस अवसर पर उसको प्रोत्साहन न दे[illegible]र मुझे बड़ा खेद होता था।

लेकिन शायद बाधाएँ हाथ धोकर उसके पीछे पड़ी थीं? पत्र के ग्राहक कम थे। चन्दे और डोनेशन से काम चलता था। रुपये हाथ आ जाते, तो कर्मचारियों को थोड़ा-थोड़ा मिल जाता, नहीं आसरा लगाये काम करते रहते। इस दशा में गरीब ने तीन महीने काटे होंगे। आशा थी, तीन महीने का हिसाब होगा, तो अच्छी रकम हाथ लगेगी; मगर वहाँ सूखा जवाब मिला। स्वामी ने टाट उलट दिया, पत्र बन्द हो गया, और कर्मचारियों को अपना-सा मुँह लिये विदा होना पड़ा। स्वामी की सज्जनता में

सन्देह नहीं; लेकिन रुपये कहाँ से लाता! सज्जनता के नाते आधे वेतन पर काम कर सकते थे; लेकिन पेट बाँधकर काम करना कब मुमकिन था! और फिर बम्बई का खर्च! बेचारे जोशी को फिर ठोंकरें खानी पड़ी। मैंने खत पढ़ा, तो बहुत दुःख हुआ। ईश्वर ने मुझे इस योग्य न बनाया, नहीं बेचारा क्यों पेट के लिये यों मारा-मारा फिरता!

बारे अबकी बहुत हैरान न होना पड़ा। किसी मिल में गाँठों पर नम्बर लिखने का काम मिल गया। एक रुपया रोज मजूरी थी। बम्बई में एक रुपया इधर के चार आने के बराबर समझो। कैसे उसका काम चलता था, ईश्वर ही जाने।

कई दिन के बाद एक लम्बा पत्र आया। एक जर्मन एजेंसी उसे रखने पर तैयार थी; अगर वह तुरन्त सौ रुपये की जमानत दे सके। एजेंसी यहाँ की फौजों में जूते, सिगार, साबुन आदि सप्लाई करने का काम करती थी। अगर यह जगह मिल जाती, तो उसके दिन आराम से कटने लगते। लिखा था, अब जिन्दगी से तङ्ग आगया हूँ। हिम्मत ने जवाब दे दिया। आत्महत्या करने के सिवा और कोई उपाय नही सूझता। केवल माताजी की चिन्ता है। रो-रोकर प्राण दे देंगी। पिताजी के साथ उन्हें शारीरिक सुखों की कमी नहीं; पर मेरे लिये उनकी आत्मा तड़पती रहती है। मेरी यही अभिलाषा है, कि कहीं बैठने का ठिकाना मिल जाता, तो एक बार उन्हें अपने साथ रखकर उनकी जितनी सेवा हो सकती, करता। इसके सिवा मुझे कोई इच्छा नहीं है;

लेकिन जमानत कहाँ से लाऊँ ? बस, कल का दिन और है। परसों कोई दूसरा उम्मेदवार जमानत देकर यह जगह ले लेगा और मैं ताकता रह जाऊँगा। एजेंट मुझे रखना चाहता है; लेकिन अपने कार्यालय के नियमों को क्या करे।

इस पत्र ने मेरी कृपण प्रकृति को भी वशीभूत कर लिया। इच्छा हो जाने पर कोई-न-कोई राह निकल आती है। मैंने रुपये भेजने का निश्चय कर लिया। अगर इतनी मदद से एक युवक का जीवन सुधर रहा हो, तो कौन ऐसा है, जो मुँह छिपा ले। इससे बड़ा रुपयों का और क्या सदुपयोग हो सकता है। हिन्दी कलम घिसनेवालों के पास इतनी बड़ी रक़म जरा मुश्किल ही से निकलती है; पर संयोग से उस वक्त मेरे कोष में रुपये मौजूद थे। मैं इसके लिये अपनी कृपणता का ऋणी हूँ। देवीजी से सलाह की। वह बड़ी खुशी से राजी हो गईं, हलाँकि अब सारा दोष मेरे ही सिर मढ़ा जाता है। कल रुपयों का पहुँचना आवश्यक था, नहीं तो अवसर हाथ से निकल जायगा। मनीआर्डर तीन दिन में पहुँचेगा। तुरन्त तार घर गया और तार से रुपये भेज दिये। जिसने बरसों की कतर-ब्योंत के बाद इतने रुपये जोड़े हों और जिसे भविष्य भी अभावमय ही दीखता हो, वही उस आनन्द का अनुभव कर सकता है, जो इस समय मुझे हुआ। सेठ अमीरचन्द को दस लाख का दान करके भी इतना आनन्द न हुआ होगा। दिया तो मैंने ऋण समझ कर ही; पर वह दोस्ती का ऋण था, जिसका अदा होना स्वप्न का यथार्थ होना है।

उस पत्र को मैं कभी न भूलूँगा, जो धन्यवाद के रूप में चौथे दिन मुझे मिला। कैसे सच्चे उद्गार थे! एक-एक शब्द अनुग्रह में डूबा हुआ। मैं उसे साहित्य की एक चीज़ समझता हूँ।

देवीजी ने चुटकी ली—सौ रुपये में उससे बहुत अच्छा पत्र मिल सकता है।

ढपोरसंख ने कुछ जवाब न दिया। कथा कहने में तन्मय थे!

बंबई में वह किसी प्रसिद्ध स्थान पर ठहरा था। केवल नाम और पोस्ट बॉक्स लिखने ही से उसे पत्र मिल जाता था। वहाँ से कई पत्र आये। वह प्रसन्न था।

देवीजी फिर बोलीं—प्रसन्न क्यों न होता, कम्पे में एक चिड़िया जो फँस गई थी।

ढपोरसंख ने चिढ़कर कहा—या तो मुझे कहने दो, या तुम कहो। बीच में बोलो मत!

बंबई से कई दिन के बाद एक पत्र आया, कि ऐजेंसी ने उसके व्यवहार से प्रसन्न होकर उसे काशी में नियुक्त कर दिया है और वह काशी आरहा है। उसे वेतन के उपरान्त भत्ता भी मिलेगा। काशी में उसके एक मौसा थे; जो वहाँ के प्रसिद्ध डॉक्टर थे; पर वह उनके घर न उतरकर अलग ठहरा। इससे उसके आत्म-सम्मान का पता चलता है; मगर एक महीने में काशी से उसका जी भर गया। शिकायत से भरे पत्र आने लगे—सुबह से शाम तक फ़ौजी आदमियों की खुशामद करनी पड़ती है, सुबह का गया-गया दस बजे रात को घर आता हूँ, उस वक्त अकेला अँधेरा

घर देखकर चित्त दुःख से भर जाता है, किससे बोलूँ, किससे हँसू। बाज़ार की पूरियाँ खाते-खाते तंग आ गया हूँ। मैंने समझा था, अब कुछ दिन चैन से कटेंगे; लेकिन मालूम होता है, अभी किस्मत में ठोंकरें खाना लिखा है। मैं इस तरह जीवित नहीं रह सकता। रात-रात भर पड़ा रोता रहता हूँ, आदि। मुझे इन पत्रों में वह अपने आदर्श से गिरता हुआ मालूम हुआ। मैंने उसे समझाया, लगी रोज़ी न छोड़ो, काम किये जाओ। जवाब आया, मुझसे अब यहाँ नहीं रहा जाता। फ़ौजियों का व्यवहार असह्य है। फिर, मैनेजर साहब मुझे रंगून भेज रहे हैं और रंगून जाकर मैं बच नहीं सकता। मैं कोई साहित्यिक काम करना चाहता हूँ। कुछ दिन आप की सेवा में रहना चाहता हूँ।

मैं इस पत्र का जवाब देने जा ही रहा था, कि फिर पत्र आया। मैं कल देहरादून-एक्सप्रेस से आ रहा हूँ। दूसरे दिन वह आ पहुँचा। दुबला-सा आदमी, साँवला रंग, लम्बा मुँह, बड़ी-बड़ी आँखें, अंग्रेज़ी वेष, साथ कई चमड़े के ट्रङ्क, एक सूटकेस, एक होल्डाल। मैं तो उसका ठाठ देखकर दंग रह गया।

देवीजी ने टिप्पणी की—फिर भी तो न चेते!

मैंने समझा था, गाढ़े का कुर्ता, चप्पल, ज्यादा-से-ज्यादा फाउन्टेन पेनवाला आदमी होगा; मगर यह महाशय तो पूरे साहब बहादुर निकले। मुझे इस छोटे-से घर में उन्हे ठहराते हुए संकोच हुआ।

देवीजी से बिना बोले न रहा गया—आते ही श्री-चरणों पर सिर तो रख दिया, अब और क्या चाहते थे!

ढपोरसंख अब की मुसकिराये—देखो श्यामा, बीच-बीच में टोको मत। अदालत की प्रतिष्ठा यह कहती है, कि अभी चुपचाप सुनती जाओ। जब तुम्हारी बारी आवे, तो जो चाहे, कहना।

फिर सिलसिला शुरू हुआ—था तो दुबला-पतला; मगर बड़ा फुर्तीला, बात-चीत में बड़ा चतुर, एक जुमला अंग्रेजी बोलता, एक जुमला हिन्दी, और हिन्दी भी अंग्रेजी खिचड़ी, जैसे आप-जैसे सभ्य लोग बोलते हैं। बात-चीत शुरू हुई—आपके दर्शनों की बड़ी इच्छा थी। मैंने जैसा अनुमान किया था, वैसा ही आपको देखा। बस, अब मालूम हो रहा है, कि मैं भी आदमी हूँ। इतने दिनों तक कैदी था।

मैंने कहा—तो क्या इस्तीफा दे दिया ?

'नहीं, अभी तो छुट्टी लेकर आया हूँ। अभी इस महीने का वेतन भी नहीं मिला। मैंने लिख दिया है, यहाँ के पते से भेज दें। नौकरी तो अच्छी है; मगर काम बहुत करना पड़ता है और मुझे कुछ लिखने का अवसर नहीं मिलता।'

खैर, रात को तो मैंने इसी कमरे में उन्हें सुलाया। दूसरे दिन यहाँ के एक होटल में प्रबन्ध कर दिया। होटलवाले पेशगी रुपये ले लेते हैं। जोशी के पास रुपये न थे। मुझे तीस रुपये देने पड़े मैंने समझा, इसका वेतन तो आता ही होगा, ले लूँगा।

यहाँ मेरे एक माथुर मित्र हैं। उनसे भी मैंने जोशी का जिक्र किया था। उसके आने की खबर पाते ही होटल दौड़े। दोनों दोस्ती हो गई। जोशी दो-तीन बार दिन में, एक बार रात

जरूर आते और खूब बातें करते। देवीजी उनको हाथों पर लिये रहतीं। कभी उनके लिये पकौड़ियाँ बन रही हैं, कभी हलवा। जोशी हरफन-मौला था। गाने में कुशल, हारमोनियम में निपुण, इन्द्रजाल के करतब दिखलाने में कुशल। सालन अच्छा पकाता था। देवीजी को गाना सीखने का शौक़ पैदा हो गया था। इसे म्यूज़िक मास्टर बना लिया।

देवीजी लाल मुँह करके बोलीं—तो क्या मुफ्त में हलवा पकौड़ियाँ, और पान बना-बनाकर खिलाती थी?

एक महीना गुजर गया; पर जोशी का वेतन न आया। मैंने पूछा भी नहीं। सोचा, अपने दिल में समझेगा, अपने होटलवाले रुपयों का तकाज़ा कर रहे हैं। माथुर के घर भी उसने आना-जाना शुरू कर दिया। दोनों साथ घूमने जाते, साथ रहते। जोशी जब आते, माथुर का बखान करते, माथुर जब आते, जोशी की तारीफ करते। जोशी के पास अपने अनुभवों का विशेष भण्डार था वह फौज में रह चुका था। जब उसकी मँगतेर का विवाह दूसरे आदमी से हो गया, तो शोक में उसने फ़ौजी नौकरी छोड़ दी थी। सामरिक जीवन की न-जाने कितनी ही घटनायें उसे याद थीं। और जब अपने माँ-बाप और चाचा-चाची का जिक्र करने लगता, तो उसकी आँखों में आँसू भर आते। देवीजी भी उसके साथ रोतीं।

देवीजी तिर्छी आँखों से देखकर रह गईं। बात सच्ची थी।

एक दिन मुझसे अपने एक ड्रामे की बड़ी तारीफ की। वह

ड्रामा कलकत्ते में खेला गया था और मदन कंपनी के मैनेजर ने उसे बधाइयाँ दी थीं। ड्रामे के दो-चार टुकड़े जो उसके पास पड़े थे, मुझे सुनाये। मुझे ड्रामा बहुत पसन्द आया। उसने काशी के एक प्रकाशक के हाथ वह ड्रामा बेच दिया था और कुल पचीस रुपये पर। मैंने कहा, उसे वापस मँगा लो। रुपये मैं दे दूँगा। ऐसी सुन्दर रचना किसी अच्छे प्रकाशक को देंगे, या किसी थिएटर कम्पनी से खेलवायेंगे। तीन-चार दिन के बाद मालूम हुआ, कि प्रकाशक अब पचास रुपये लेकर लौटावेगा। कहता है, मैं इसका कुछ अंश छाप चुका हूँ। मैंने कहा, मँगा लो पचास रुपये ही सही। ड्रामा वी० पी० से वापस आया। मैंने पचास रुपये दे दिये।

महीना ख़त्म हो रहा था। होटलवाले दूसरा महीना शुरू होते ही रुपये पेशगी माँगेंगे। मैं इसी चिन्ता में था, कि जोशी ने आकर कहा—मैं अब माथुर के साथ रहूँगा। बेचारा गरीब आदमी है। अगर मैं बीस रुपये भी दे दूँगा, तो उसका काम चल जायगा। मैं बहुत खुश हुआ। दूसरे दिन वह माथुर के घर डट गया।

अब आता, तो माथुर के घर का कोई-न-कोई रहस्य लेकर आता। यह तो मैं जानता था, कि माथुर की आर्थिक दशा अच्छी नहीं है। बेचारा रेलवे के दफ्तर में नौकर था। वह नौकरी भी छूट गई थी; मगर यह न मालूम था, कि उसके यहाँ फाके हो रहे हैं। कभी मालिक मकान आकर गालियाँ सुना जाता है, कभी

दूधवाला, कभी बनिया, कभी कपड़ेवाला। बेचारा उनसे मुँह छिपाता फिरता है। जोशी आँखों में आँसू भर-भरकर उसके संकटों की करुण कहानी कहता और रोता। मैं तो जानता था, मैं ही एक आफ़त का मारा हूँ। माथुर की दशा देखकर मुझे अपनी विपत्ति भूल गई। मुझे अपनी ही चिन्ता है, कोइ दूसरी फ़िक्र नहीं। जिसके द्वार पर जा पड़ूँ, दो रोटियाँ मिल जायँगी ; मगर माथुर के पीछे तो पूरा खटला है। माँ, दो विधवा बहनें, एक भाँजी, दो भाँजे, एक छोटा भाई। इतने बड़े परिवार के लिये पचास रुपये तो केवल रोटी-दाल के लिये चाहिए। माथुर सच्चा वीर है, देवता है, जो इतने बड़े परिवार का पालन कर रहा है। वह अब अपने लिये नहीं, माथुर के लिये दुखी था।

देवीजी ने टीका की—जभी माथुर की भांजी पर डोरे डाल रहा था। दुःख का भार कैसे हलका करता !

ढपोरसंख ने बिगड़कर कहा—अच्छा, तो अब तुम्हीं कहो।

मैंने समझाया—तुम तो यार ज़रा-ज़रा-सी बात पर तिनक उठते हो। क्या तुम समझते हो, यह फुलझड़ियाँ मुझे न्याय-पथ से विचलित कर देंगी ?

फिर कहानी शुरू हुई—एक दिन आकर बोला—आज मैंने माथुर के उद्धार का उपाय सोच निकाला। मेरे एक माथुर मित्र बैरिस्टर हैं। उनसे जग्गो (माथुर की भाँजी) के विवाह के विषय में पत्र-व्यवहार कर रहा हूँ। उसकी एक बिधवा बहन को दोनों बच्चों के साथ ससुराल भेज दूँगा। दूसरी बिधवा बहन अपने

देवर के पास जाने पर राजी है। बस, तीन-चार आदमी रह जायँगे। कुछ मैं दूँगा, कुछ माथुर पैदा करेगा, गुजर हो जायगा; मगर आज उसके घर के दो महीनों का किराया देना पड़ेगा। मालिक मकान ने सुबह ही से धरना दे रक्खा है। कहता है, अपना किराया लेकर ही हटूँगा। आपके पास तीस रुपये हों, तो दे दीजिए। माथुर के छोटे भाई का वेतन कल-परसों तक मिल जायगा, रुपये मिल जायँगे। एक मित्र संकट में पड़ा हुआ है। दूसरा मित्र उसकी सिफारिश कर रहा है। मुझे इनकार करने का साहस न हुआ। देवीजी ने उस वक्त नाक-भौं ज़रूर सिकोड़ा था; पर मैंने न माना। रुपये दे दिये।

देवीजी ने डंक मारा—यह क्यों नहीं कहते, कि वह रुपये मेरी बहन ने बरतन खरीदकर भेजने के लिये भेजे थे।

ढपोरसंख ने गुस्सा पीकर कहा—खैर, यही सही। मैंने रुपये दे दिये; मगर मुझे यह उलझन होने लगी, कि इस तरह तो मेरा कचूमर ही निकल जायगा। माथुर पर एक-न-एक संकट रोज़ ही सवार रहेगा, मैं कहाँ तक उन्हें उबारूँगा। जोशी भी जान खारहा था, कि कहीं कोई जगह दिला दीजिए। संयोग से उन्हीं दिनों मेरे एक आगरे के मित्र आ निकले। काउँसिल के मेम्बर थे। अब जेल में हैं। गाने-बजाने का शौक है, दो-एक ड्रामे भी लिख चुके हैं। अच्छे-अच्छे रईसों से परिचय है। खुद भी बड़े रसिक हैं। अब की वह आये, तो मैंने जोशी का उनसे जिक्र किया। उसका ड्रामा भी सुनाया। बोले—तो उसे मेरे साथ कर दीजिए। अपना प्राइवेट

सेक्रेटरी बना लूँगा। मेरे घर में रहे, मेरे साथ घर के आदमी की तरह रहे। जेब-खर्च के लिये मुझ से तीस रुपये महीना लेता जाय। मेरे साथ ड्रामे लिखे। मैं फूला न समाया। जोशी से कहा। जोशी भी तैयार हो गया; लेकिन जाने के पहले उसे कुछ रुपयों की जरूरत हुई। एक भले आदमी के साथ फटे हालों तो जाते नहीं बनता और न यही उचित था, कि पहले ही दिन से रुपयों का तकाजा होने लगे। बहुत काट-छाँट करने पर भी चालीस रुपये का खर्च निकल आया। जूते टूट गये थे। धोतियाँ फट गई थीं। और भी कई खर्च थे, जो इस वक्त याद नहीं आते। मेरे पास रुपये न थे। श्यामा से माँगने का हौसला न हुआ।

देवीजी बोलीं—मेरे पास तो कारूँ का खजाना रक्खा था न! कई हज़ार महीने लाते हो, सौ-दो-सौ रुपये बचत में आ ही जाते होंगे!

ढपोरसंख इस व्यंग्य पर ध्यान न देकर अपनी कथा कहते रहे—रुपये पाकर जोशी ने ठाट बनाया और काउन्सिलर साहब के साथ चले। मैं स्टेशन तक पहुँचाने गया। माथुर भी था। लौटा, तो मेरे दिल पर से एक बोझ उतर गया था।

माथुर ने कहा—बड़ा मुहब्बती आदमी है।

मैंने समर्थन किया—बड़ा। मुझे तो भाई-सा मालूम होता है।

'मुझे तो अब घर अच्छा न लगेगा। घर के सब आदमी रोते रहे। मालूम ही न होता था, कि कोई गैर आदमी है। अम्माँ से लड़के की तरह बातें करता था। बहनों से भाई की तरह।'

'बदनसीब आदमी हैं, नहीं, जिसका बाप दो हज़ार रुपये माहवारी कमाता हो, वह यों मारा-मारा फिरे।'

'दार्जिलिंग में इनके बाप की दो कोठियाँ हैं!'

'आई० एम० एस० है!'

'जोशी मुझे भी वहीं ले जाना चाहता है। साल-दो-साल में तो वहाँ जायगा ही। कहता है, तुम्हें मोटर की एजेंसी खुलवा दूँगा।

इस तरह ख़याली पुलाव पकाते हुए हम लोग घर आये।

मैं दिल में खुश था, कि चलो अच्छा हुआ, जोशी के लिये अच्छा सिलसिला निकल आया! मुझे यह आशा भी बँध चली, कि अब की उसे वेतन मिलेगा, तो मेरे रुपये देगा। चार-पाँच महीने में चुकता कर देगा। हिसाब लगाकर देखा, तो अच्छी ख़ासी रक़म हो गई थी। मैंने दिल में समझा, यह भी अच्छा ही हुआ। यों जमा करता, तो कभी न जमा होते। इस बहाने से किसी तरह जमा तो हो गये। मैंने यह भी सोचा, कि अपने मित्र से जोशी के वेतन के रुपये पेशगी क्यों न ले लूँ, कह दूँ, उसके वेतन से महीने-महीने काटते रहियेगा।

लेकिन अभी मुश्किल से एक सप्ताह हुआ होगा, कि एक दिन देखता हूँ, तो जोशी और माथुर, दोनों चले आ रहे हैं। मुझे भय हुआ, कहीं जोशीजी फिर तो नहीं छोड़ आये; लेकिन शंका को दबाता हुआ बोला—कहो भई, कब आये? मज़े में तो हो!

जोशी ने बैठकर एक सिगार जलाते हुये कहा—बहुत अच्छी

तरह हूँ। मेरे बाबू साहब बड़े ही सज्जन आदमी हैं। मेरे लिये अलग एक कमरा खाली करा दिया है। साथ ही खिलाते हैं। बिलकुल भाई की तरह रखते हैं। आजकल किसी काम से दिल्ली गये हैं। मैंने सोचा, यहाँ पड़े-पड़े क्या करूँ, तब तक आप ही लोगों से मिलता आऊँ। चलते वक्त बाबू साहब ने मुझसे कहा था, मुरादाबाद से थोड़े-से बरतन लेते आना; मगर शायद उन्हें रुपये देने की याद नहीं रही। मैंने उस वक्त माँगना भी उचित न समझा। आप एक पचास रुपये दे दीजिएगा। मैं परसों तक जाऊँगा और वहाँ से जाते-ही-जाते भेजवा दूँगा। आप तो जानते हैं, रुपये के मुआमले में कितने खरे हैं।

मैंने ज़रा रुखाई के साथ कहा—रुपये तो इस वक्त मेरे पस नहीं हैं।

देवीजी ने टिप्पणी की—क्यों झूठ बोलते हो? तुमने रुखाई से कहा था, कि रुपये नहीं हैं?

ढपोरसंख ने पूछा—और क्यों चिकनाई के साथ कहा था?

देवी—तो फिर काग़ज़ के रुपये क्यों दे दिये थे? बड़ी रुखाई करनेवाले।

ढपोरसंख—अच्छा साहब, मैंने हँसकर रुपये दे दिये। बस, अब खुश हुईं। तो भई मुझे बुरा तो लगा; लेकिन अपने सज्जन मित्र का वास्ता था। मेरे ऊपर बेचारे बड़ी कृपा रखते हैं। मेरे पास पत्रिका का कागज़ ख़रीदने के लिये पचास रुपये रक्खे हुए थे। वह मैंने जोशी को दे दिये।

शाम को माथुर ने आकर कहा—जोशी तो चले गये। कहते थे, बाबू साहब का तार आ गया है। बड़ा उदार आदमी है। मालूम ही नहीं होता, कोई बाहरी आदमी है। स्वभाव भी बालकों का-सा है। भांजी की शादी तय करने को कहते थे। लेन-देन का तो कोई जिक्र है ही नहीं; पर कुछ नज़र तो देनी ही पड़ेगी। बैरिस्टर साहब, जिनसे विवाह हो रहा है, दिल्ली के रहनेवाले हैं। उनके पास जाकर नज़र देनी होगी। जोशीजी चले जायँगे। आज मैंने रुपये भी दे दिये। चलिए एक बड़ी चिन्ता सिर से टली।

मैंने पूछा—रुपये तो तुम्हारे पास न होंगे?

माथुर ने कहा—रुपये कहाँ थे साहब! एक महाजन से स्टाम्प लिखकर लिये, दो रुपये सैकड़े सूद पर।

देवीजी ने क्रोध-भरे स्वर में कहा—मैं तो उस दुष्ट को पा जाऊँ, तो मुँह नोच लूँ। पिशाच ने इस ग़रीब को भी न छोड़ा।

ढपोरसंख बोला—यह क्रोध तो आपको अब आ रहा है न। तब तो आप भी समझती थीं, कि जोशी दया और धर्म का पुतला है।

देवीजी ने विरोध किया—मैंने उसे पुतला-पुतली कभी नहीं समझा। हाँ, तुम्हारी तारीफ़ों के भुलावे में पड़ जाती थी।

ढपोरसंख—तो साहब, इस तरह कोई दो महीने गुज़रे, इस बीच में भी जोशी दो-तीन बार आये; मगर मुझसे कुछ माँगा नहीं। हाँ, अपने बाबू साहब के सम्बन्ध में तरह-तरह की बातें कीं, जिनसे मुझे दो-चार गल्प लिखने की सामग्री मिल गई।

मई का महीना था। एक दिन प्रातःकाल जोशी आ पहुँचे। मैंने पूछा, तो मालूम हुआ, उनके बाबू साहब नैनीताल चले गये। इन्हें भी लिये जाते थे; पर उन्होंने हम लोगों के साथ यहाँ रहना अच्छा समझा और चले आये।

देवीजी ने फुलझड़ी छोड़ी—कितना त्यागी था बेचारा। नैनीताल की बहार छोड़कर यहाँ गर्मी में प्राण देने चला आया।

ढपोरसंखजी ने इसकी ओर कुछ ध्यान न देकर कहा—मैंने पूछा—कोई नई बात तो नहीं हुई वहाँ!

जोशी ने हँसकर कहा—मेरे भाग्य में तो नई-नई विपत्तियाँ लिखी हैं। उनसे कैसे जान बच सकती है। अबकी भी एक नई विपत्ति सिर पड़ी। यह कहिए आपका आशीर्वाद था, जान बच गई, नहीं तो अब तक जमुनाजी में बहा चला जाता होता। एक दिन जमुना-किनारे सैर करने चला गया। वहाँ तैराकी का मैच था। बहुत-से आदमी तमाशा देखने आये हुए थे। मैं भी एक जगह खड़ा होकर देखने लगा। मुझसे थोड़ी दूर पर एक और महाशय एक युवती के साथ खड़े थे। मैंने बातचीत की, तो मालूम हुआ, मेरी ही बिरादरी के हैं। यह भी मालूम हुआ, मेरे पिता और चचा, दोनों ही से उनका परिचय है। मुझसे स्नेह की बातें करने लगे—तुम्हें इस तरह ठोकरें खाते तो बहुत दिन हो गये; क्यों नहीं चले जाते, अपने माँ-बाप के पास। माना कि उनका लोक-व्यवहार तुम्हें पसन्द नहीं; लेकिन माता-पिता का

पुत्र पर कुछ-न-कुछ अधिकार तो होता ही है। तुम्हारी माताजी को कितना दुख हो रहा होगा।

सहसा एक युवक किसी तरफ से आ निकला और वृद्ध महाशय तथा युवती को देखकर बोला—आपको शर्म नहीं आती कि आप अपनी युवती कन्या को इस तरह मेले में लिये खड़े हैं।

वृद्ध महाशय का मुँह जरा-सा निकल आया और युवती तुरन्त घूँघट निकालकर पीछे हट गई। मालूम हुआ, कि उसका विवाह इसी युवक से ठहरा हुआ है। वृद्ध उदार, सामाजिक विचारों के आदमी थे। परदे के कायल न थे। युवक, बयस में युवक होकर भी खूसट विचारों का आदमी था, परदे का कट्टर पक्षपाती। वृद्ध थोड़ी देर तक तो अपराधी-भाव से बातें करते रहे; पर युवक प्रतिक्षण गर्म होता जाता था। आखिर बूढ़े बाबा भी तेज हुए।

युवक ने आँखें निकाल कर कहा—मैं ऐसी निर्लज्जा से विवाह करना अपने लिये अपमान की बात समझता हूँ।

वृद्ध ने क्रोध से काँपते हुए स्वर में कहा—और मैं तुम-जैसे लम्पट से अपनी कन्या का विवाह करना लज्जा की बात समझता हूँ।

युवक ने क्रोध के आवेश में वृद्ध का हाथ पकड़कर धक्का दिया। बातों से न जीतकर अब वह हाथों से काम लेना चाहता था। वृद्ध धक्का खाकर गिर पड़े। मैंने लपक कर इन्हें उठाया और युवक को डाँटा।

वह वृद्ध को छोड़कर मुझसे लिपट गया। मैं कोई

कुश्तीबाज तो हूँ नहीं। वह लड़ना जानता था। मुझे उसने बात-की-बात में गिरा लिया और मेरा गला दबाने लगा। कई आदमी जमा हो गये थे। जब तक कुश्ती होती रही, लोग कुश्ती का आनन्द उठाते रहे; लेकिन जब देखा मुआमला संगीन हुआ चाहता है, तो तुरन्त बीच-बचाव कर दिया। युवक बूढ़े बाबा से जाते-जाते कह गया—तुम अपनी लड़की को वेश्या बनाकर बाज़ार में घुमाना चाहते हो, तो अच्छी तरह घुमाओ, मुझे अब उससे विवाह नहीं करना है। वृद्ध चुपचाप खड़े थे और युवती रो रही थी। भाई साहब, तब मुझसे न रहा गया। मैंने कहा—महाशय, आप मेरे पिता के तुल्य हैं और मुझे जानते हैं। यदि आप मुझे इस योग्य समझें, तो मैं इन देवीजी को अपनी हृदयेश्वरी बनाकर अपने को धन्य समझूँगा। मैं जिस दशा में हूँ, आप देख रहे हैं। संभव है, मेरा जीवन इसी तरह कट जाय; लेकिन श्रद्धा, सेवा और प्रेम यदि जीवन को सुखी बना सकता है, तो मुझे विश्वास है, कि देवीजी के प्रति मुझ में इन भावों की कमी न रहेगी। बूढ़े बाबा ने गद्गद होकर मुझे कंठ से लगा लिया। उसी क्षण मुझे अपने घर ले गये, भोजन कराया और विवाह का सगुन कर दिया। मैं एक बार युवती से मिलकर उनकी सम्मति भी लेना चाहता था। बूढ़े बाबा ने मुझे इसकी सहर्ष अनुमति दे दी! युवती से मिलकर मुझे ज्ञात हुआ, कि वह रमणियों में रत्न है। मैं उसकी बुद्धिमत्ता देखकर चकित हो गया। मैंने अपने मन में जिस सुन्दरी की कल्पना की थी, वह उससे हू-

बहू मिलती है, मुझे उतने ही देर में विश्वास होगया, कि मेरा जीवन उसके साथ सुखी होगा। मुझे अब आशीर्वाद दीजिए। युवती आपकी पत्रिका बराबर पढ़ती है और आपसे उसे बड़ी श्रद्धा है। जून में विवाह होना निश्चय हुआ है। मैंने स्पष्ट कह दिया, मैं जेवर-कपड़े नाम-मात्र को लाऊँगा, न कोई धूम-धाम ही करूँगा। वृद्ध ने कहा—मैं तो स्वयं यही कहनेवाला था। मैं कोई तैयारी नहीं चाहता, न धूम-धाम की मुझे इच्छा है। जब मैंने आपका नाम लिया, कि वह मेरे बड़े भाई के तुल्य हैं, तो वह बहुत प्रसन्न हुए। आपके लेखों को वह बड़े आदर से देखते हैं।

मैंने कुछ खिन्न होकर कहा—यह तो सब कुछ है; लेकिन इस समय तुममें विवाह करने की सामर्थ्य भी नहीं है? और कुछ न हो, तो पचास रुपये की बँधी हुई आमदनी तो होनी ही चाहिए।

जोशी ने कहा—भाई साहब, मेरा उद्धार विवाह ही से होगा। मेरे घर से निकलने का कारण भी विवाह ही था और घर वापस जाने का कारण भी विवाह ही होगा। जिस समय प्रमिला हाथ बाँधे हुए जाकर पिताजी के चरणों पर गिर पड़ेगी, उनका पाषाण-हृदय भी पिघल जायगा। समझेंगे, विवाह तो हो ही चुका, अब वधू पर क्यों जुल्म किया जाय। जब उसे आश्रय मिल जायगा, तो मुझे झकमार कर बुलावेंगे। मैं इसी ज़िद पर घर से निकला था, कि अपना विवाह अपनी इच्छानुसार बिना कुछ लिये-दिये करूँगा और वह मेरी प्रतिज्ञा पूरी हुई जा रही है। प्रमिला इतनी चतुर है, कि वह मेरे घरवालों को चुटकियों में मना लेगी। मैंने

तखमीना लगा लिया है। कुल तीन सौ रुपये खर्च होंगे और यही तीन-चार सौ रुपये मुझे ससुराल से मिलेंगे। मैंने सोचा है, प्रमिला को पहले यहीं लाऊँगा। यहीं से वह मेरे घर पत्र लिखेगी और आप देखिएगा तीसरे ही दिन चाचा साहब गहनों की पेटारी लिये आ पहुँचेंगे। विवाह हो जाने पर वह कुछ नहीं कर सकते। इसी-लिये मैंने विवाह की खबर किसी को नहीं दी।

मैंने कहा—लेकिन मेरे पास तो अभी कुछ भी नहीं है भाई। मैं तीन सौ रुपये कहाँ से लाऊँगा?

जोशी ने कहा—तीन सौ रुपये नकद थोड़े ही लगेंगे। कोई सौ रुपये के कपड़े लगेंगे। सौ रुपये की दो-एक सोहाग की चीजें बनवा लूँगा और सौ रुपये राह-ख़र्च समझ लीजिए। उनका मकान काशीपुर में है। वहीं से विवाह करेंगे। यह बंगाली सोनार जो सामने है, आपके कहने से एक सप्ताह के वादे पर जो-जो चीज़ें माँगूँगा, दे देगा। बज़ाज भी आपके कहने से दे देगा। नक़द मुझे कुल सौ रुपये की जरूरत पड़ेगी और ज्योंही उधर से लौटा त्योंही दे दूँगा। बरात में आप और माथुर के सिवा कोई तीसरा आदमी न होगा। आपको मैं कष्ट नहीं देना चाहता; लेकिन जिस तरह अब तक आपने मुझे भाई समझकर सहायता दी है, उसी तरह एक बार और दीजिए। मुझे विश्वास था, कि आप इस शुभ कार्य में आपत्ति न करेंगे। इसीलिये मैंने बचन दे दिया। अब तो आपको यह डोंगी पार लगानी ही पड़ेगी।

देवीजी बोलीं—मैं न कहती थी, उसे एक पैसा मत दो। कह दो, हम तुम्हारी शादी-विवाह के झंझट में नहीं पड़ते ?

ढपोरसंख ने कहा—हाँ, तुमने अबकी बार ज़रूर समझाया ; लेकिन मैं क्या करता। शादी का मुआमला, उसपर उसने मुझे भी घसीट लिया था, अपनी इज्ज़त का कुछ ख्याल तो करना ही पड़ता है।

देवीजी ने मेरा लिहाज़ किया और चुप हो गईं।

अब मैं उस वृत्तान्त को न बढ़ाऊँगा। सारांश यह है, कि जोशी ने ढपोरसंख के मत्थे सौ रुपये के कपड़े और सौ रुपये से कुछ ऊपर के गहनों का बोझ लादा। बेचारों ने एक मित्र से सौ रुपये उधार लेकर उनके सफ़र-ख़र्च को दिया। खुद ब्याह में शरीक हुए। ब्याह में ख़ासी धूम-धाम रही। कन्या के पिता ने मेहमानों का आदर-सत्कार खूब किया। उन्हें जल्दी थी ; इसलिये वह खुद तो दूसरे ही दिन चले आये ; पर माथुर जोशी के साथ विवाह के अन्त तक रहा—ढपोरसंख को आशा थी, कि जोशी ससुराल के रुपये पाते ही माथुर के हाथों भेज देगा, या खुद लेता आवेगा ; मगर माथुर भी दूसरे दिन आ गये, खाली हाथ और यह ख़बर लाये, कि जोशी को ससुराल में कुछ भी हाथ नहीं लगा। माथुर से उन्हें अब मालूम हुआ कि लड़की से जमुना-तट पर मिलने की बात सर्वथा निर्मूल थी। इस लड़की से जोशी बहुत दिनों से पत्र-व्यवहार कर रहा था। फिर तो ढपोरसंख के कान खड़े हो गये। माथुर से पूछा—अच्छा ! यह बिल्कुल कल्पना थी उसकी ?

माथुर—जी हाँ।

ढपोर०—अच्छा तुम्हारी भांजी के विवाह का क्या हुआ ?

माथुर—अभी तो कुछ नहीं हुआ।

ढपोर०—मगर जोशी ने कई महीने तक तुम्हारी सहायता तो खूब की ?

माथुर—मेरी सहायता वह क्या करता। हाँ, दोनों जून भोजन भले कर लेता था।

ढपोर०—तुम्हारे नाम पर उसने मुझसे जो रुपए लिये थे, वह तो तुम्हें दिये होंगे ?

माथुर—क्या मेरे नाम पर भी कुछ रुपये लिये थे ?

ढपोर०—हाँ भाई, तुम्हारे घर का किराया देने के लिये तो ले गया था।

माथुर—सरासर बेईमानी। मुझे उसने एक पैसा भी नहीं दिया, उलटे और एक महाजन से मेरे नाम पर सौ रुपयों का स्टाम्प लिखकर रुपये लिये। मैं क्या जानता था, कि धोखा दे रहा है। संयोग से उसी वक्त आगरे के वह सज्जन आ गये, जिनके पास जोशी कुछ दिनों रहा था। उन्होंने माथुर को देखकर पूछा—अच्छा ! आप अभी जिन्दा हैं। जोशी ने तो कहा था, माथुर मर गया है।

माथुर ने हँस कर कहा—मेरे तो सिर में दर्द भी नहीं हुआ।

ढपोरसंख ने पूछा—अच्छा आप के मुरादाबादी बरतन तो पहुँच गये।

आगारा-निवासी मित्र ने कुतूहल से पूछा—कैसे मुरादाबादी बरतन ?

'वही जो आपने जोशी की मार्फत मँगवाये थे ?'

'मैंने कोई चीज़ उसकी मारफ़त नहीं मँगवाई। मुझे जरूरत होती, तो आप को सीधा न लिखता !'

माथुर ने हँसर कहा—तो यह रुपये भी उसने हज़म कर लिये।

आगरा-निवासी मित्र बोले—मुझसे भी तो तुम्हारी मृत्यु के बहाने सौ रुपये लाया था। यह तो एक ही ज़ालिया निकला। उफ़ ! कितना बड़ा चकमा दिया है इसने। ज़िन्दगी में यह पहला मौका है, कि मैं यों बेवकूफ़ बना। बचा को पा जाऊँ, तो तीन साल को भेजवाऊँ। कहाँ है आजकल ?

माथुर ने कहा—अभी तो ससुराल में है।

ढपोरसंख का वृतान्त समाप्त हो गया। जोशी ने उन्हीं को नहीं, माथुर-जैसे ग़रीब और आगरा-निवासी सज्जन-जैसे घाघ को भी उलटे छुरे से मुँड़ा और अगर भंडा न फूट गया होता, तो अभी न-जाने कितने दिनों तक मुँड़ता। उसकी इन मौलिक चालों पर मैं भी मुग्ध हो गया। बेशक ! अपने फन का उस्ताद है, छटा हुआ गुर्गा।

देवीजी बोलीं—सुन ली आपने सारी कथा ?

मैंने डरते-डरते कहा—हाँ, सुन तो ली।

'अच्छा, तो अब आपका क्या फैसला है ? (पति की ओर इशारा करके) इन्होंने घोंघापन किया या नहीं ? जिस आदमी

को एक-एक पैसे के लिये दूसरों का मुँह ताकना पड़े, वह घर के पाँच-छः सौ रुपये इस तरह उड़ा दे, इसे आप उसकी सज्जनता कहेंगे या बेवकूफ़ी ? अगर इन्होंने यह समझकर रुपये दिये होते, कि पानी में फेक रहा हूँ, तो मुझे कोई आपत्ति न थी ; मगर यह बराबर इस धोखे में रहे और मुझे भी उसी धोखे में डालते रहे, कि वह घर का मालदार है और मेरे सब रुपये ही न लौटा देगा ; बल्कि और भी कितने सलूक करेगा। जिसका बाप दो हज़ार रुपये महीना पाता हो, जिसके चचा की आमदनी एक हज़ार-मासिक हो और एक लाख की जायदाद घर में हो, वह और कुछ नहीं तो यूरोप की सैर तो एक बार करा ही सकता था। मैं अगर कभी मना भी करती, तो आप बिगड़ जाते थे और उदारता का उपदेश देने लगते थे। यह मैं स्वीकार करती हूँ, कि शुरू में मैं भी धोखे में आ गई थी ; मगर पीछे से मुझे उसका सन्देह होने लगा था। और विवाह के समय तो मैंने जोर देकर कह दिया था, कि अब एक पाई भी न दूँगी। पूछिये झूठ कहती हूँ, या सच ! फिर अगर मुझे धोखा हुआ, तो मैं घर में रहनेवाली स्त्री हूँ। मेरा धोखे में आ जाना क्षम्य है ; मगर यह जो लेखक और विचारक और उपदेशक बनते हैं, यह क्यों धोखे में आये ; और जब मैं इन्हें समझाती थी, तो यह क्यों अपने को बुद्धिमत्ता का अवतार समझ कर मेरी बातों की उपेक्षा करते थे ? देखिए, रू-रिआयता न कीजियेगा, नहीं मैं बुरी तरह ख़बर लूँगी। मैं निष्पक्ष न्याय चाहती हूँ।'

ढपोरसंख ने दर्दनाक आँखों से मेरी तरफ देखा, जो मानो मानभिक्षा माँग रही थीं। उसी के साथ देवीजो की, आग्रह, आदेश और गर्व से भरी आँखें ताक रही थीं। एक को अपनी हार का विश्वास था, दूसरी को अपनी जीत का। एक रिआयत चाहती थी, दूसरी सच्चा न्याय।

मैंने कृत्रिम गंभीरता से अपना निर्णय सुनाया—मेरे मित्र ने कुछ भावुकता से अवश्य काम लिया है; पर उनकी सज्जनता निर्विवाद है। ढपोरसंख उछल पड़े और मेरे गले लिपट गये। देवीजी ने सगर्व नेत्रों से देखकर कहा—यह तो मैं जानती ही थी, कि चोर-चोर मौसरे भाई होंगे। तुम दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हो। अब तक रुपये में एक पाई मर्दों का विश्वास था। आज तुमने वह भी उठा दिया। आज निश्चय हुआ, कि पुरुष, छली, कपटी, विश्वासघाती और स्वार्थी होते हैं। मैं इस निर्णय को नहीं मानती। मुफ्त में ईमान बिगाड़ना इसी को कहते हैं। भला मेरा पक्ष लेते, तो अच्छा भोजन मिलता, उनका पक्ष लेकर आपको सड़े सिगरेटों के सिवा और क्या हाथ लगेगा। खैर, हाँड़ी गई तो गई, कुत्ते की जात तो पहचानी गई।

उस दिन से दो-तीन बार देवीजी से भेंट हो चुकी है, और वही फटकार सुननी पड़ी है। वह न क्षमा चाहती हैं, न क्षमा कर सकती हैं।

डिमांसट्रेशन

महाशय गुरु प्रसादजी रसिक जीव हैं, गाने-बजाने का शौक है, खाने-खिलाने का शौक है, और सैर-तमाशे का शौक है; पर उसी मात्रा में द्रव्योपार्जन का शौक नहीं है। यों वह किसी के मुहताज नहीं हैं, भले आदमियों की तरह रहते हैं और हैं भी भले आदमी; मगर किसी काम में चिमट नहीं सकते। गुड़ होकर भी उनमें लस नहीं है। वह कोई ऐसा काम उठाना चाहते हैं, जिसमें चटपट क़ारूँ का खजाना मिल जाय और हमेशा के लिये बेफिक्र हो जायँ। बैंक से ६ माही सूद चला आए, खायँ और मज़े से पड़े रहें। किसी ने सलाह दी, नाटक कम्पनी खोलो। उनके दिल में भी बात जम गई। मित्रों को लिखा—मैं ड्रामेटिक कंपनी खोलने जा रहा हूँ, आप लोग ड्रामे लिखना शुरू कीजिये। कंपनी का प्रास-पेक्टस बना, कई महने उसकी खूब चर्चा रही, कई बड़े-बड़े आदमियों ने हिस्से ख़रीदने के वादे किए। लेकिन न हिस्से बिके, न कंपनी खड़ी हुई, हाँ इसी धुन में गुरु प्रसादजी ने एक नाटक की रचना कर डाली। और यह फिक्र हुई कि इसे किसी कंपनी को दिया जाय। लेकिन यह तो मालूम ही था, कंपनी वाले एक ही घाघ होते हैं। फिर हरेक कंपनी में उसका एक नाटककार भी

होता। वह कब चाहेगा कि उसकी कंपनी में किसी बाहरी आदमी का प्रवेश हो। वह इस रचना में तरह-तरह के ऐब निकालेगा और कंपनी के मालिक को भड़का देगा। इसलिए प्रबंध किया गया, कि मालिकों पर नाटक का कुछ ऐसा प्रभाव जमा दिया जाय कि नाटककार महोदय की कुछ दाल न गल सके। पाँच सज्जनों की एक कमेटी बनाई गई, उसमें सारा प्रोग्राम विस्तार के साथ तय किया गया और दूसरे दिन पाँचों सज्जन गुरु प्रसादजी के साथ नाटक दिखाने चले। ताँगे आ गये। हारमोनियम, तबला आदि सब उसपर रख दिए गये; क्योंकि नाटक का (demonstration) करना निश्चत हुआ था।

सहसा विनोद बिहारी ने कहा—'यार, तांगे पर जाने में तो कुछ बदरोबी होगी। मालिक सोचेगा, यह महाशय योंहीं हैं। इस समय दस-पाँच रुपये का मुँह न देखना चाहिये। मैं तो अंग्रेज़ों की विज्ञापनबाज़ी का क़ायल हूँ कि रुपये में पन्द्रह आने उसमें लगाकर शेष एक आने में रोज़गार करते हैं। कहीं से दो मोटरें मंगानी चाहिये।'

रसिकलाल बोले—'लेकिन केराये को मोटरों से यह बात न पैदा होगी, जो आप चाहते हैं। किसी रईस से दो मोटरें माँगनी चाहिये, मारिसन हो या नए चाल की आस्टिन।'

बात सच्ची थी। भेख से भीख मिलती है। विचार होने लगा किस रईस से याचना की जाय। अजी वह महाखूसट है। सबेरे उसका नाम ले लो, तो दिन भर पानी न मिले। अच्छा सेठजी के

पास चलें तो कैसा ? मुँह धो रखिए, उसकी मोटरें अफ़सरों के लिए रिज़र्व हैं, अपने लड़के तक को कभी बैठने नहीं देता, आप को दिए देता है। तो फिर कपूर साहब के पास चलें। अभी उन्होंने नई मोटर ली है। अजी उसका नाम न लो। कोई-न-कोई बहाना करेगा, ड्राइवर नहीं है, मरम्मत में है।

गुरुप्रसाद ने अधीर होकर कहा—'तुम लोगों ने तो व्यर्थ का बखेड़ा कर दिया। तांगों पर चलने में क्या हरज था।'

विनोद बिहारी ने कहा—'आप तो घास खा गये हैं। नाटक लिख लेना दूसरी बात है और मुआमले को पटाना दूसरी बात है। रुपये पृष्ठ सुना देगा, अपना-सा मुँह लेकर रह जाओगे।'

अमरनाथ ने कहा—'मैं तो समझता हूँ, मोटर के लिये किसी राजा-रईस की खुशामद करना बेकार है। तारीफ़ तो जब है कि पाँव-पाँव चलें और वहाँ ऐसा रंग जमायें कि मोटर से भी ज्यादा शान रहे।' विनोद बिहारी उछल पड़े। सब लोग पाँव-पाँव चले। वहाँ पहुँचकर किस तरह बातें शुरू होंगी, किस तरह तारीफ़ों के पुल बाँधे जायँगे, किस तरह ड्रामेटिस्ट साहब को खुश किया जायगा, इस पर बहस होती जाती थी।

हम लोग कंपनी के कैम्प में कोई दो बजे पहुँचे। वहाँ मालिक साहब, उनके ऐक्टर, नाटककार सब पहले ही से हमारा इन्तज़ार कर रहे थे। पान, इलायची, सिगरेट मँगा लिये गये थे।

ऊपर जातेही रसिकलाल ने मालिक से कहा—'क्षमा कीजिएगा, हमें आने में देर हुई। हम मोटर से नहीं, पाँव-पाँव आए

हैं। आज यही सलाह हुई कि प्रकृति की छटा का आनन्द उठाते चलें। गुरुप्रसादजी तो प्रकृति के उपासक हैं। इनका बस होता, तो आज चिमटा लिये या तो कहीं भीख माँगते होते, या किसी पहाड़ गाँव में बट वृक्ष के नीचे बैठे पक्षियों का चहकना सुनते होते।'

विनोद ने रद्दा जमाया—'और आए भी तो सीधे रास्ते से नहीं, जाने कहाँ-कहाँ का चक्कर लगाते, ख़ाक छानते। पैरों में जैसे सनीचर है।'

अमर ने और रंग जमाया—'पूरे सतजुगी आदमी हैं। नोकर-चाकर तो मोटरों पर सवार होते हैं और आप गली-गली मारे-मारे फिरते हैं। जब और रईस मीठी नींद के मज़े लेते होते हैं, तो आप नदी के किनारे ऊषा का शृंगार देखते हैं।' मस्तराम ने फ़रमाया—'कवि होना, माने दीन दुनियाँ से मुक्त हो जाना है। गुलाब की एक पंखड़ी लेकर उसमें न जाने क्या घंटों देखा करते हैं। प्रकृति की उपासना ने ही युरोप के बड़े-बड़े कवियों को आसमान पर पहुँचा दिया है। युरोप में होते, तो आज इनके द्वार पर हाथी झूमता होता। एक दिन एक बालक को रोते देखकर आप रोने लगे। पूछता हूँ—भई क्यों रोते हो, तो और रोते हैं। मुँह से आवाज़ नहीं निकलती। बड़ी मुशकिल से आवाज़ निकली।'

बिनोद—'जनाब! कवि का हृदय कोमल भावों का स्रोत है, मधुर संगीत का भंडार है, अनंत का आईना है।'

रसिक—'क्या बात कही है आपने, अनंत का आईना है! वाह! कवि की सोहबत में आप भी कुछ कवि हुए जा रहे हैं।'

गुरुप्रसाद ने नम्रता से कहा—'मैं कवि नहीं हूँ और न मुझे कवि होने का दावा है। आप लोग मुझे जबरदस्ती कवि बनाये देते हैं। कवि स्रष्टा की वह अद्भुत रचना है जो पंच भूतों की जगह नौ रसों से बनती है।'

मस्तराम—'आपका यही एक वाक्य है, जिस पर सैकड़ों कविताएँ न्योछावर हैं। सुनी आपने रसिकलालजी, कवि की महिमा। याद कर लीजिये, रट डालिये।'

रसिकलाल—'कहाँ तक याद करें, भैया, यह तो सूक्तियों में बातें करते हैं। और नम्रता का यह हाल है कि अपने को कुछ समझते ही नहीं। महानता का यही लक्षण है। जिसने अपने को कुछ समझा, वह गया। (कंपनी के स्वामी से) आप तो अब खुद ही सुनेंगे, इस ड्रामा में अपना हृदय निकाल कर रख दिया है। कवियों में जो एक प्रकार का अल्हड़पन होता है, उसकी आप में कहीं गंध भी नहीं। इस ड्रामे की सामग्री जमा करने के लिए आपने कुछ नहीं तो एक हज़ार बड़े-बड़े पोथों का अध्ययन किया होगा। वाजिदअली शाह को स्वार्थी इतिहास लेखकों ने कितना कलंकित किया है, आप लोग जानते ही हैं। उस लेख राशि को छाँट कर उसमें से सत्य के तत्व को खोज निकालना आप ही का काम था!'

बिनोद—'इसीलिए हम और आप दोनों कलकत्ते गये और

वहाँ कोई ६ महीने मटियाबुर्ज की खाक छानते रहे। वाजिदअली शाह की हस्तलिखित एक पुस्तक की तलाश की। उसमें उन्होंने खुद अपनी जीवन चर्या लिखी है। एक बुढ़िया की पूजा की गई तब कहीं जाके ६ महीने में किताब मिली।'

अमरनाथ—'पुस्तक नहीं रत्न है।'

मस्तराम—'उस वक्त तो उसकी दशा कोयले की थी, गुरु प्रसादजी ने उस पर मोहर लगाकर अशर्फी बना दिया। ड्रामा ऐसा चाहिये कि जो सुने दिल हाथों से थाम ले। एक-एक वाक्य दिल में चुभ जाय।'

अमरनाथ—'संसार साहित्य के सभी नाटकों को आपने चाट डाला और नाट्य रचना पर सैकड़ों किताबें पढ़ डालीं।'

विनोद—'जभी तो चीज भी लासानी हुई है।'

अमरनाथ—लाहौर ड्रामेटिक क्लब का मालिक हफ्ते भर यहाँ पड़ा रहा, पैरो पड़ा कि मुझे यह नाटक दे दीजिए; लेकिन आपने न दिया न दिया। जब ऐक्टर ही अच्छे नहीं, तो उनसे अपना ड्रामा खेलावना उसकी मिट्टी खराब करना था। इस कंपनी के ऐक्टर माशा अल्लाह अपना जबाब नहीं रखते और इसके नाटककार के सारे ज़माने में धूम है। आप लोगों के हाथों में पड़कर यह ड्रामा धूम मचा देगा।'

विनोद—'एक तो लेखक साहब खुद शैतान से ज्यादा मशहूर हैं, उस पर यहाँ के ऐक्टरों का नाट्य कौशल! शहर लुट जायगा।'

मस्तराम—'रोज़ ही तो किसी-न-किसी कम्पनी का आदमी सिर पर सवार रहता है ; मगर बाबू साहब किसी से सीधे मुँह बात नहीं करते।'

विनोद—'बस एक यह कम्पनी है, जिसके तमाशों के लिए दिल बेक़रार रहता है, नहीं तो और जितने ड्रामे खेले जाते हैं दो कौड़ी के। मैंने तमाशा देखना ही छोड़ दिया।'

गुरुप्रसाद—'नाटक लिखना बच्चों का खेल नहीं है, खूने जिगर पीना पड़ता है। मेरे ख़याल में एक नाटक लिखने के लिये पाँच साल का समय भी काफी नहीं। बल्कि अच्छा ड्रामा ज़िंदगी में एक ही लिखा जा सकता है। यों कलम घिसना दूसरी बात है। बड़े-बड़े धुरंधर आलोचकों का यही निर्णय है कि आदमी जिन्दगी में एक ही नाटक लिख सकता है। रूस, फ्राँस, जर्मनी सभी देशों के ड्रामे पढ़े ; पर कोई-न-कोई दोष सभी में मौजूद। किसी में भाव है तो भाषा नहीं, भाषा है तो भाव नहीं। हास्य है तो गान नहीं, गान है तो हास्य नहीं। जब तक भाव, भाषा, हास्य और गान यह चारों अंग न पूरे हों, उसे ड्रामा कहना ही न चाहिये। मैं तो बहुत ही तुच्छ आदमी हूँ, कुछ आप लोगों की सोहबत में शुदबुद आ गया। मेरी रचना की हस्ती ही क्या। लेकिन ईश्वर ने चाहा, तो ऐसे दोष आपको न मिलेंगे।

विनोद—'जब आप उस विषय के मर्मज्ञ हैं, तो दोष रह ही कैसे सकते हैं।

रसिकलाल—'दस साल तक तो आपने केवल संगीत कला

का अभ्यास किया है। घर के हजारों रुपये उस्तादों को भेंट कर दिए, फिर भी दोष रह जाय, तो दुर्भाग्य है।'

रिहर्सल—

रिहर्सल शुरू और वाह! वाह! हाय! हाय! का तार बँधा। कोरस सुनते ही एक्टर और प्रोप्राइटर और नाटककार सभी मानों जाग पड़े। भूमिका ने उन्हें विशेष प्रभावित न किया था; पर असली चीज सामने आते ही आँखें खुलीं। समाँ बँध गया। पहला सीन आया। आँखों के सामने वाजिद अलीशाह के दर्बार की तसवीर खिंच गई। दर्बारियों की हाजिर-जवाबी और फड़कते हुए लतीफ़े! वाह वाह! क्या कहना है। क्या वाक्य रचना थी, क्या शब्द योजना थी, रसों का कितना सुरुचि से भरा हुआ समावेश था। तीसरा दृश्य हास्य मय था। हँसते-हँसते लोगों की पसलियाँ दुखने लगीं, स्थूलकाय स्वामी की संयत अविचलता भी आसन से डिग गई। चौथा सीन करुणाजनक था। हास्य के बाद करुणा, आंधी के बाद आने वाली शान्ति थी। विनोद आँखों पर हाथ रक्खे, शिर झुकाये, जैसे रो रहे थे। मस्तराम बार-बार ठंडी आहें खींच रहे थे और अमरनाथ बार-बार सिसकियाँ भर रहे थे। इसी तरह सीन-पर-सीन और अंक-पर-अंक समाप्त होते गए, यहाँ तक कि जब रिहर्सल समाप्त हुआ, तो दीपक जल चुके थे।

सेठजी अब तक सोंठ बने हुए बैठे थे। ड्रामा समाप्त हो गया; पर उनके मुखारविन्द पर उनके मनोविचार का लेशमात्र भी आभास न था। जड़ भरत की तरह बैठे हुए थे, न मुसकिराहट थी,

मस्त—'ड्रामाटिस्ट भी बहुत खुश हो रहा था। दस-बारह हजार का वारा न्यारा है। भई आज इस खुशी में एक दावत होनी चाहिए।'

गुरुप्रसाद—'अरे, तो कुछ बोहनी बट्टा तो हो जाय।'

मस्त—'जी नहीं, तब तो जलसा होगा। आज दावत होगी।'

विनोद—'भाग्य के बली हो तुम गुरुप्रसाद।'

रसिक—'मेरी राय है, जरा उस ड्रामाटिस्ट को गाँठ लिया जाय। उसका मौन मुझे भयभीत कर रहा है।'

मस्त—'आप तो वाही हुए हैं। वह नाक रगड़ कर रह जाय, तब भी यह सौदा होकर रहेगा। सेठजी अब बचकर निकल नहीं सकते।'

विनोद—'हम लोगों की भूमिका भी तो ज़ोरदार थी।'

अमर—'उसी ने तो रंग जमा दिया। अब कोई छोटी रकम कहने का उसे साहस न होगा।'

अभिनय—

रात को गुरुप्रसाद के घर मित्रों की दावत हुई। दूसरे दिन कोई ६ बजे पाँचो आदमी सेठजी के पास जा पहुचे। संध्या का समय हवाखोरी का है। आज मोटर पर न आने के लिये बना बनाया बहाना था। सेठजी आज बेहद खुश नजर आते थे। कल की वह मुहर्रमी सूरत अन्तर्धान हो गई थी। बात-बात पर चह-कते थे, हँसते थे, फ़िक़रः कसते थे, जैसे लखनऊ का कोई रईस हो। दावत का सामान तैयार था। मेजों पर भोजन चुना जाने लगा।

अंगूर, संतरे, केले, सूखे मेवे, कई किसम की मिठाइयाँ, कई तरह के मुरब्बे, शराब आदि सजा दिए गये और यारों ने खूब मजे से दावत खाई। सेठजी मेहमान नेवाज़ी के पुतले बने हुए हरेक मेहमान के पास आ-आकर पूछते—कुछ और मँगवाऊँ? कुछ तो और लीजिए। आप लोगों के लायक भोजन यहाँ कहाँ बन सकता है।

भोजन के उपरान्त लोग बैठे, तो मुआमले की बात-चीत होने लगी। गुरुप्रसाद का हृदय आशा और भय से काँपने लगा।

सेठजी—'हुजूर ने बहुत ही सुन्दर नाटक लिखा है। क्या बात है!'

ड्रामेटिस्ट—'यहाँ जनता अच्छे ड्रामों की कद्र नहीं करती, नहीं तो यह ड्रामा ला जवाब होता।'

सेठजी—'जनता कद्र नहीं करती न करे, हमें जनता की बिलकुल परवाह नहीं है, रत्ती बराबर परवाह नहीं है। मैं तो इसकी तैयारी में ५० हज़ार केवल बाबू साहब की खातिर से खर्च कर दूँगा। आप ने इतनी मेहनत से एक चीज़ लिखी है, तो मैं उसका प्रचार भी उतने ही हौसले से करूँगा। हमारे साहित्य के लिये क्या यह कुछ कम सौभाग्य की बात है कि आप-जैसे महान पुरुष इस क्षेत्र में आ गए। यह कीर्ति हुजूर को अमर बना देगी।'

ड्रामेटिस्ट—'मैंने तो ऐसा ड्रामा आज तक नहीं देखा। लिखता मैं भी हूँ, और लोग भी लिखते हैं। लेकिन आप की उड़ान को कोई क्या पहुँचेगा! कहीं-कहीं तो आपने शेक्सपियर को भी मात कर दिया है।'

सेठजी—'तो जनाब, जो चीज दिल की उमङ्ग से लिखी जाती है, वह ऐसी ही अद्वितीय होती है। शेक्सपियर ने जो कुछ लिखा, रुपये के लोभ से लिखा। हमारे दूसरे नाटककार भी धन ही के लिये लिखते हैं। उनमें वह बात कहाँ पैदा हो सकती है, जो निस्वार्थ भाव से लिखने वालों में पैदा हो सकती है। गोसाईंजी की रामायण क्यों अमर है? इसीलिये कि वह भक्ति और प्रेम से प्रेरित होकर लिखी गई है। सादी की गुलिस्ताँ और बोस्ताँ, होमर की रचनाएँ, इसीलिये स्थायी हैं कि उन कवियों ने दिल की उमङ्ग से लिखा। जो उमङ्ग से लिखता है, वह एक-एक शब्द, एक-एक वाक्य, एक-एक उक्ति पर महीनों खर्च कर देता है। धनेच्छु को तो एक काम जल्दी से समाप्त कर के दूसरा काम शुरू करने की फ़िक्र होती है।'

ड्रामेटिस्ट—'आप बिलकुल सत्य कह रहे हैं। हमारे साहित्य की अवनति केवल इसलिये हो रही है कि हम सब धन के लिए, या नाम के लिए लिखते हैं।'

सेठजी—'सोचिए, आपने दस साल केवल संगीतकला के लिए खर्च कर दिए। लाखों रुपये कलावंतों और गायकों को दे डाले होंगे। कहाँ-कहाँ से और कितने परिश्रम और खोज से इस नाटक की सामग्री एकत्र की। न जाने कितने राजों महाराजों को सुनाया। इस परिश्रम और लगन का पुरस्कार कौन दे सकता है।'

ड्रामेटिस्ट—'मुमकिन ही नहीं। ऐसी रचनाओं के पुरस्कार की कल्पना करना ही उनका अनादर करना है। इनका पुरस्कार

यदि कुछ है, तो वह अपने आत्मा का सन्तोष है, और वह सन्तोष आप के एक-एक शब्द से प्रकट होता है।'

सेठजी—'आप ने बिलकुल सत्य कहा कि ऐसी रचनाओं का पुरस्कार अपनी आत्मा का सन्तोष है। यश तो बहुधा ऐसी रचनाओं को मिल जाता है, जो साहित्य के कलंक हैं। आप से ड्रामा ले लीजिए और आज ही पार्ट भी तकसीम कर दीजिए। तीन महीने के अन्दर इसे खेल डालना होगा।' मेज़ पर ड्रामे की हस्त-लिपि पड़ी हुई थी। ड्रामेटिस्ट ने उसे उठा लिया। गुरुप्रसाद ने दीन नेत्रों से विनोद की ओर देखा, विनोद ने अमर की ओर, अमर ने रसिक की ओर; पर शब्द किसी के मुँह से न निकला। सेठजी ने मानो सभी के मुँह सी दिए हों। ड्रामेटिस्ट साहब किताब लेकर चल दिए।

सेठजी ने मुसकिरा कर कहा—'हुज़ूर को थोड़ी-सी तकलीफ़ और करनी होगी। ड्रामा का रिहर्सल शुरू हो जायगा, तो आप को थोड़े दिनों कम्पनी के साथ रहने का कष्ट उठाना पड़ेगा। हमारे एक्टर अधिकांश गुजराती हैं। वह हिन्दी भाषा के शब्दों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते। कहीं-कहीं शब्दों पर अनावश्यक ज़ोर दे देते हैं। अपनी निगरानी से यह सारी बुराइयाँ दूर हो जायँगी। एक्टरों ने यदि पार्ट अच्छा न किया, तो आपके सारे परिश्रम पर पानी पड़ जायगा।'—यह कहते हुये उसने लड़के को आवाज़ दी—बोय! आप लोगों के लिये सिगार लाओ।

सिगार आ गया। सेठजी उठ खड़े हुए। यह मित्र मण्डली

के लिये विदाई की सूचना थी। पांचों सज्जन भी उठे। सेठजी आगे-आगे द्वार तक आए। फिर सब से हाथ मिलाते हुए कहा—'आज इस गरीब कंपनी का तमाशा देख लीजिए। फिर यह संयोग न जाने कब प्राप्त हो।'

गुरुप्रसाद ने मानो किसी कब्र के नीचे से कहा—हो सका, तो आ जाऊँगा। सड़क पर आकर पाँचों मित्र खड़े होकर एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। तब पाँचों ही जोर से कह-कहा मारकर हँस पड़े।

विनोद ने कहा—'यह हम सब का गुरु घंटाल निकला।'

अमर—'साफ़ आँखों में धूल झोंक दी।'

रसिक—'मैं उसकी चुप्पी देखकर पहले ही से डर रहा था कि यह कोई पल्ले सिरे का घाघ है।'

मस्त—'मान गया इसकी खोपड़ी को। यह चपत उम्र भर न भूलेगी।'

गुरुप्रसाद इस आलोचना में शरीक न हुए। वह इस तरह सिर झुकाए चले जा रहे थे, मानो अभी तक वह स्थिति को समझ ही न पाए हों।

दारोग़ाजी

कल शाम को एक ज़रूरत से ताँगे पर बैठा हुआ जा रहा था कि रास्ते में एक और महाशय ताँगे पर आ बैठे। ताँगे वाला उन्हें बैठाना तो न चाहता था, पर इनकार भी न कर सकता था। पुलिस के आदमी से झगड़ा कौन मोल ले। यह साहब किसी थाने के दारोग़ा थे। एक मुक़दमे की पैरवी करने सदर आए थे। मेरी आदत है कि पुलिस वालों से बहुत कम बोलता हूँ। सच पूछिए, तो मुझे उनकी सूरत से नफ़रत है। उनके हाथों प्रजा को कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं, इसका अनुभव इस जीवन में कई बार कर चुका हूँ। मैं ज़रा एक तरफ़ खिसक गया और मुँह फेरकर दूसरी ओर देखने लगा कि दारोग़ाजी बोले—जनाब, यह आम शिकायत है कि पुलिस वाले बहुत रिश्वत लेते हैं; लेकिन यह कोई नहीं देखता कि पुलिस वालों को रिश्वत लेने के लिये कितना मजबूर किया जाता है। अगर पुलिस वाले रिश्वत लेना बन्द कर दें, तो मैं हलफ़ से कहता हूँ, ये जो बड़े-बड़े ऊँची पगड़ियों वाले रईस नज़र आते हैं, सब-के-सब जेलख़ाने के अन्दर बैठे दिखाई दें। अगर हर एक मामले का चालान करने लगें, तो दुनिया पुलिस वालों को और भी बदनाम करे। आपको यक़ीन न आएगा जनाब,

रुपयों की थैलियाँ गले लगाई जाती हैं। हम हजार इनकार करें; पर चारों तरफ से ऐसे दबाव पड़ते हैं कि लाचार होकर लेना ही पड़ता है।

मैंने उपहास के भाव से कहा—जो काम रुपये लेकर किया जाता है, वही काम बिना रुपये लिए भी तो किया जा सकता है।

दारोग़ाजी हँसकर बोले—वह तो गुनाह बेलज्जत होगा, बन्दा परवर। पुलिस का आदमी इतना कट्टर देवता नहीं होता, और मेरा ख़याल है कि शायद कोई इंसान भी इतना बेग़ौस नहीं हो सकता। और सीग़ों के लोगों को भी देखता हूँ, मुझे तो कोई देवता न मिला......

मैं अभी इसका कुछ जवाब दे ही रहा था कि एक मियाँ साहब लम्बी अचकन पहने, तुर्की टोपी लगाए, ताँगे के सामने से निकले। दारोग़ाजी ने उन्हें देखते ही झुककर सलाम किया और शायद मिज़ाज शरीफ पूछना चाहते थे कि उस भले आदमी ने सलाम का जवाब गालियों से देना शुरू किया। जब ताँगा कई क़दम आगे निकल आया, तो वह एक पत्थर लेकर तांगे के पीछे दौड़ा। ताँगे वाले ने घोड़े को तेज किया। उस भलेमानुष ने भी कदम तेज किए और पत्थर फेंका। मेरा सिर बाल-बाल बच गया। उसने दूसरा पत्थर उठाया, वह हमारे सामने आकर गिरा। तीसरा पत्थर इतने जोर से आया कि दारोग़ाजी के घुटने में बड़ी चोट आई; पर इतनी देर में ताँगा इतनी दूर निकल आया था कि हम अब पत्थरों की मार से दूर हो गए थे। हाँ, गालियों की मार

अभी तक जारी थी। जब तक वह आदमी आँखों से ओझल न होगया, हम उसे एक हाँथ में पत्थर उठाए, गालियाँ बकते हुए देखते रहे।

जब ज़रा चित्त शांत हुआ, मैंने दारोग़ाजी से पूछा—यह कौन आदमी है साहब ? कोई पागल तो नहीं है ?

दारोग़ाजी ने घुटने को सहलाते हुए कहा—पागल नहीं है साहब, मेरा पुराना दुश्मन है। मैंने समझा था, ज़ालिम पिछली बातें भूल गया होगा। वरना मुझे क्या पड़ी थी कि सलाम करने जाता।

मैंने पूछा—आपने इसे किसी मुकदमे में सज़ा दिलाई होगी !

'बड़ी लंबी दास्तान है जनाब। बस, इतना ही समझ लीजिये कि इसका बस चले, तो मुझे ज़िंदा ही निगल जाय।'

'आप तो शौक़ की आग को और भड़का रहे हैं। अब तो वह दास्तान सुने बग़ैर तस्कीन न होगी।'

दारोग़ाजी ने पहलू बदलकर कहा—अच्छी बात है, सुनिए कई साल हुए, मैं सदर में ही तैनात था। बे फिक्री के दिन थे, ताज़ा खून, एक माशूक से आँख लड़ गई। आमद-रफ्त शुरू हुई। अब भी जब उस हसीना की याद आती है, तो आँखों से आँसू निकल आते हैं। बाज़ारू औरतों में इतनी हया, इतनी वफ़ा, इतनी मुरव्वत मैंने नहीं देखी। दो साल उसके साथ इतने लुत्फ़ से गुज़रे कि आज भी उसकी याद करके रोता हूँ। मगर क़िस्से को बढ़ाऊँगा नहीं, वरना अधूरा ही रह जायगा। मुख्तसर यह कि दो साल के बाद मेरे तबादले का हुक्म आ गया। उस वक्त

दिल को जितना सदमा पहुँचा, उसका ज़िक्र करने के लिये एक दफ्तर चाहिए। बस, यही जी चाहता था कि इस्तीफ़ा दे दूँ। उस हसीना ने यह ख़बर सुनी, तो उसकी जान-सी निकल गई। सफ़र की तैयारी के लिये मुझे तीन दिन मिले थे। ये तीन दिन हमने मंसूबे बाँधने में काटे। उस वक्त मुझे अनुभव हुआ कि औरतों को अक्ल से ख़ाली समझने में हमने कितनी बड़ी ग़लती की है। मेरे मंसूबे शेख़-चिल्ली के-से होते थे। कलकत्ते भाग चलें, वहाँ कोई दूकान खोल दें, या इसी तरह की कोई दूसरी तजवीज़ करता। लेकिन वह यही जवाब देती कि अभी वहाँ जाकर अपना काम करो। जब मकान का बन्दोबस्त हो जाय, तो मुझे बुला लेना। मैं दौड़ी चली आऊँगी।

आख़िर जुदाई की घड़ी आई। मुझे मालूम होता था कि अब जान न बचेगी। गाड़ी का वक्त निकला जाता था, और मैं उसके पास से उठने का नाम न लेता था। मगर मैं फिर क़िस्से को तूल देने लगा। खुलासा यह कि मैं उसे दो-तीन दिन में बुलाने का वादा करके रुख़सत हुआ। पर अफ़सोस! वह दो-तीन दिन कभी न आए। पहले दस-पाँच दिन तो अफ़सरों से मिलने और इलाके की देखभाल में गुज़रे। इसके बाद घर से ख़त आ गया कि तुम्हारी शादी तय हो गई है; रुख़सत लेकर चले आओ। शादी की खुशी में उस वफ़ा की देवी की मुझे फ़िक्र न रही। शादी करके महीने-भर बाद लौटा, तो बीबी साथ थी। रही-सही याद भी जाती रही। उसने एक महीने के बाद एक ख़त

भेजा ; पर मैंने उसका जवाब न दिया। डरता रहता था कि कहीं एक दिन वह आकर सिर पर सवार न हो जाय ; फिर बीबी को मुँह दिखाने लायक़ भी न रह जाऊँ।

साल भर के बाद मुझे एक काम से सदर आना पड़ा। उस वक्त मुझे उस औरत की याद आई। सोचा, जरा चलकर देखना चाहिए, किस हालत में है। फौरन अपने खत न भेजने और इतने दिनों तक न आने का जवाब सोच लिया और उसके द्वार पर जा पहुँचा। दरवाजा साफ़-सुथरा था, मकान की हालत भी पहले से अच्छी थी। दिल को खुशी हुई कि इसकी हालत उतनी खराब नहीं है, जितनी मैंने समझी थी। और, क्यों खराब होने लगी। मुझ-जैसे दुनिया में क्या और आदमी ही नहीं हैं।

मैंने दरवाजा खट-खटाया। अंदर से वह बंद था। आवाज़ आई—'कौन है ?'

मैंने कहा—वाह ! इतनी जल्द भूल गई। मैं हूँ, बशीर......

कोई जवाब न मिला। आवाज़ उसी की थी, इसमें शक नहीं ; फिर दरवाज़ा क्यों नहीं खोलती ? जरूर मुझसे नाराज है। मैंने फिर किवाड़ खट-खटाए और लगा अपनी मुसीबतों का क़िस्सा सुनाने। कोई पन्द्रह मिनट के बाद दरवाज़ा खुला। हसीना ने मुझे इशारे से अंदर बुलाया और चट किवाड़ बन्द कर लिए। मैंने कहा—मैं तुमसे मुआफ़ी माँगने आया हूँ। यहाँ से जाकर मैं बड़ी मुश्किल में फँस गया। इलाका इतना खराब है कि दम मारने की मुहलत नहीं मिलती।

होता था कि किवाड़ तोड़ डालेगा। हसीना के चेहरे पर एक रंग आता था, एक रंग जाता था। बेचारी खड़ी काँप रही थी। बस, जबान से यही निकलता था—या अल्लाह रहम कर!

बाहर से आवाज़ आई—अरे तुम क्या सरेशाम से सो गई? अभी तो आठ भी नहीं बजे। कहीं साँप तो नहीं सूँघ गया। अल्लाह जानता है अब और देर की, तो किवाड़ चिड़वा डालूँगा।

मैंने गिड़गिड़ाकर कहा—'खुदा के लिये मेरे छिपने की कोई जगह बताओ। पिछवाड़े कोई दरवाज़ा नहीं है?'

'ना!'

'संडास तो है?'

'सबसे पहले वह वहीं जायँगे'

'अच्छा वह सामने कोठरी कैसी है?'

'हाँ है तो, लेकिन कहीं कोठरी खोलकर देखा तो?'

'क्या बहुत डबल आदमी है?'

'तुम-जैसे दो को बग़ल में दबा ले।'

'तो खोल दो कोठरी। वह ज्यों ही अंदर आएगा, मैं दरवाज़ा खोलकर निकल भागूँगा।'

हसीना ने कोठरी खोल दी। मैं अंदर जा घुसा। दरवाज़ा फिर बंद हो गया।

मुझे कोठरी में बंद करके हसीना ने जाकर सदर दरवाज़ा खोला और बोली—क्यों किवाड़ तोड़े डालते हो? आ तो रही हूँ।

मैंने कोठरी के किवाड़ों के दराज़ों से देखा। आदमी क्या

पूरा देव था। अंदर आते ही बोला—तुम सरेशाम से सो गई थीं!

'हाँ, ज़रा आँख लग गई थी।'

'मुझे तो ऐसा मालूम हो रहा था कि तुम किसी से बातें कर रही हो।'

'वहम की दवा तो लुक़मान के पास भी नहीं।'

'मैंने साफ़ सुना। कोई-न-कोई था ज़रूर। तुमने उसे कहीं छिपा रक्खा है।'

'इन्हीं बातों पर तुमसे मेरा जी जलता है। सारा घर तो पड़ा है, देख क्यों नहीं लेते।'

'देखूँगा तो मैं जरूर ही, लेकिन तुमसे सीधे-सीधे पूछता हूँ, बतला दो, कौन था?'

हसीना ने कुंजियों का गुच्छा फेकते हुए कहा—अगर कोई था, तो घर ही में न होगा। लो, सब जगह देख आओ। सुई तो है नहीं कि मैंने कहीं छिपा दी हो।

वह शैतान इन चकमों में न आया। शायद पहले भी ऐसा ही चरका खा चुका था। कुंजियों का गुच्छा उठाकर सबसे पहले मेरी कोठरी के द्वार पर आया और उसके ताले को खोलने की कोशिश करने लगा। गुच्छे में उस ताले की कुंजी न थी। बोला—इस कोठरी की कुंजी कहाँ है?

हसीना ने बनावटी ताज्जुब से कहा—अरे, तो क्या उसमें कोई छिपा बैठा है? वह तो लकड़ियों से भरी पड़ी है।

'तुम कुंजी दे दो न।'

'तुम भी कभी-कभी पागलों के-से काम करने लगते हो। अँधेरे में कोई साँप-बिच्छू निकल आए तो। ना भैया, मैं उसकी कुंजी न दूँगी।'

'बला से साँप निकल आएगा। अच्छा ही हो, निकल आए। इस वेहयाई की जिंदगी से तो मौत ही अच्छी।'

हसीना ने इधर-उधर तलाश करके कहा—न-जाने उसकी कुंजी कहाँ रख दी। खयाल नहीं आता।

'इस कोठरी में तो मैंने और कभी ताला पड़ा नहीं देखा।'

'मैं तो रोज़ लगाती हूँ। शायद कभी लगाना भूल गई हूँ, वो नहीं कह सकती।'

'तो तुम कुंजी न दोगी?'

'कहती तो हूँ, इस वक्त नहीं मिल रही है।'

'कहे देता हूँ कच्चा ही खा जाऊँगा।'

अब तक तो मैं किसी तरह ज़ब्त किए खड़ा रहा। बार-बार अपने ऊपर गुस्सा आ रहा था कि यहाँ क्यों आया। न-जाने यह शैतान कैसे पेश आए। कहीं तैश में आकर मार ही न डाले। मेरे हाथ में तो कोई छूरी भी नहीं। या खुदा! अब तू ही मालिक है। दम रोके हुए खड़ा था कि एक पल का भी मौका मिले, तो निकल भागूँ; लेकिन जब उस मरदूद ने किवाड़ों को जोर से धमधमाना शुरू किया, तब तो रूह ही फ़ना हो गई। इधर-उधर निगाह डाली कि किसी कोने में छिपने की जगह है, या नहीं। किवाड़ के दराजों से कुछ रोशनी आ रही थी। ऊपर जो निगाह उठाई, तो एक मचान-

सा दिखाई दिया। डूबते को तिनके का सहारा मिल गया। उचक कर चाहता था कि ऊपर चढ़ जाऊँ कि मचान पर एक आदमी को बैठे देखकर उस हालत में मेरे मुख से चीख़ निकल गई। यह हज़रत अचकन पहने, घड़ी लगाए, एक ख़ूबसूरत साफा बाँधे, उकड़ूँ बैठे हुए थे। अब मुझे मालूम हुआ कि मेरे लिये दरवाज़ा खोलने में हसीना ने इतनी देर क्यों की थी। अभी इनको देख ही रहा था कि दरवाज़े पर मूसल की चोटें पड़ने लगीं। मामूली किवाड़ तो थे ही, तीन-चार चोटों में दोनों किवाड़े नीचे आ रहे, और वह मरदूद लालटेन लिए कमरे में घुसा। उस वक्त मेरी क्या हालत थी, इसका अंदाज़ आप खुद कर सकते हैं। उसने मुझे देखते ही लालटेन रख दी और मेरी गर्दन पकड़कर बोला—अच्छा, आप यहाँ तशरीफ़ रखते हैं! आइए, आपकी कुछ ख़ातिर करूँ। ऐसे मेहमान रोज़ कहाँ मिलते हैं।

यह कहते हुए उसने मेरा एक हाथ पकड़ कर इतने ज़ोर से बाहर की तरफ़ ढकेला कि मैं आँगन में औंधा जा गिरा। उस शैतान की आँखों से अंगारे निकल रहे थे। मालूम होता था, उसके होंठ मेरा खून चूसने के लिये बढ़े आ रहे हैं। मैं अभी ज़मीन से उठने भी न पाया था कि वह कसाई एक बड़ा-सा तेज़ छुरा लिए मेरी गर्दन पर आ पहुँचा; मगर जनाब, हूँ पुलीस का आदमी। उस वक्त मुझे एक चाल सूझ गई। उसने मेरी जान बचा ली, वरना आज आपके साथ ताँगे पर न बैठा होता। मैंने हाथ जोड़कर कहा—हुज़ूर, मैं बिलकुल बेक़सूर हूँ। मैं तो मीर साहब के साथ आया था।

उसने गरजकर पूछा—कौन मीर साहब ? मैंने जी कड़ा करके कहा—वही, जो मचान पर बैठे हुए हैं। मैं तो हुजूर का ग़ुलाम ठहरा, जहाँ हुक्म पाऊँगा, आपके साथ जाऊँगा। मेरी इसमें क्या ख़ता है।

'अच्छा, तो कोई मीर साहब मचान पर भी तशरीफ़ रखते हैं ?'

उसने मेरा हाथ पकड़ लिया और कोठरी में जाकर मचान पर देखा। वह हज़रत सिमटे-सिमटाए, भींगी बिल्ली बने बैठे थे। चेहरा ऐसा पीला पड़ गया था, गोया बदन में जान ही नहीं।

उसने उनका हाथ पकड़कर एक झटका दिया, तो आप धम से नीचे आ रहे। उनका ठाट देखकर अब इसमें कोई शुबहा न रहा कि वह मेरे मालिक हैं। उनकी सूरत देखकर इस वक्त तरस के साथ हँसी भी आती थी।

'तू कौन है बे ?'

'जी, मैं...मेरा मकान, यह आदमी झूठा है, यह मेरा नौकर नहीं है।'

'तू यहाँ क्या करने आया था ?'

'मुझे यही बदमाश (मेरी तरफ देखकर) धोखा देकर लाया था।'

'यह क्यों नहीं कहता कि मजे उड़ाने आया था। दूसरों पर इल्जाम रखकर अपनी जान बचाना चाहता है सुअर ? ले तू भी क्या समझेगा कि किसके पाले पड़ा था।'

यह कहकर उसने उसी तेज़ छुरे से उन साहब की नाक काट ली। मैं मौक़ा पाकर बेतहाशा भागा ; लेकिन हाय-हाय की आवाज़ मेरे कानों में आ रही थी। इसके बाद उन दोनों में कैसी छनी, हसीना के सिर पर क्या आफ़त आई, इसकी मुझे कुछ खबर नहीं। मैं तब से बीसों बार सदर आ चुका हूँ ; पर उधर भूलकर भी नहीं गया। यह पत्थर फेंकनेवाले हज़रत वही हैं, जिनकी नाक कटी थी। आज न-जाने कहाँ से दिखाई पड़ गये, और मेरी शामत आई कि उन्हें सलाम कर बैठा। आपने उनकी नाक की तरफ़ शायद ख़याल नहीं किया।

मुझे अब ख़याल आया कि उस आदमी की नाक कुछ चिपटी थी। बोला—हाँ, नाक कुछ चिपटी तो थी। मगर आपने उस ग़रीब को बुरा चरका दिया।

'और करता ही क्या ?'

'आप दोनों मिलकर उस आदमी को क्या न दबा लेते ?'

'ज़रूर दबा लेते ; मगर चोर का दिल आधा होता है। उस वक्त अपनी-अपनी पड़ी थी कि मुकाबला करने की सूझती। कहीं उस रमझल्ले में धर लिया जाता, तो आबरू अलग जाती और नौकरी से अलग हाथ धोता। मगर अब इस आदमी से होशियार रहना पड़ेगा।'

इतने में चौक आ गया, और हम दोनों ने अपनी-अपनी राह ली।

अभिलाषा

कल पड़ोस में बड़ी हलचल मची। एक पानवाला अपनी स्त्री को मार रहा था। वह बेचारी बैठी रो रही थी, पर उस निर्दयी को उस पर लेश-मात्र भी दया न आती थी। आख़िर स्त्री को भी क्रोध आ गया। उसने खड़े होकर कहा—बस! अब मारोगे, तो ठीक न होगा। आज से मेरा तुमसे कोई संबंध नहीं। मैं भीख माँगूँगी, पर तेरे घर न आऊँगी। यह कहकर उसने अपनी एक पुरानी साड़ी उठाई और घर से निकल पड़ी। पुरुष काठ के उल्लू की तरह खड़ा देखता रहा। स्त्री कुछ दूर चलकर फिर लौटी और दूकान की संदूकची खोलकर कुछ पैसे निकाले। शायद अभी तक उसे कुछ ममता थी; पर उस निर्दयी ने तुरंत उसका हाथ पकड़कर पैसे छीन लिए! हाय री हृदय-हीनता! अबला स्त्री के प्रति पुरुष का यह अत्याचार! एक दिन इसी स्त्री पर उसने प्राण दिए होंगे, उसका मुँह जोहता रहा होगा; पर आज इतना निष्ठुर हो गया है, मानो कभी की जान-पहचान ही नहीं। स्त्री ने पैसे रख दिए और बिना कुछ कहे-सुने चली गई। कौन जाने कहाँ! मैं अपने कमरे की खिड़की से घंटों देखती रही कि शायद वह फिर लौटे, या शायद पानवाला ही उसे मनाने जाय; पर दोमें से

एक बात भी न हुई ! आज मुझे स्त्री की सच्ची दशा का पहली बार ज्ञान हुआ। यह दूकान दोनों की थी। पुरुष तो मटरगश्त किया करता था, स्त्री रात-दिन बैठी सती होती थी। दस-ग्यारह बजे रात तक मैं उसे दूकान पर बैठे देखती थी। प्रातःकाल नींद खुलती, तब भी उसे बैठे पाती। नोच-खसोट, काट-कपट जितना पुरुष करता था, उससे कुछ अधिक ही स्त्री करती थी। पर पुरुष सब कुछ है, स्त्री कुछ नहीं ! पुरुष जब चाहे उसे निकाल बाहर कर सकता है !

इस समस्या पर मेरा चित्त इतना अशांत हो गया कि नींद आँखों से भाग गई। बारह बज गये और मैं बैठी रही। आकाश पर निर्मल चाँदनी छिटकी हुई थी। निशानाथ अपने रत्न-जटित सिंहासन पर गर्व से फूले बैठे थे। बादल के छोटे-छोटे टुकड़े धीरे-धीरे चन्द्रमा के समीप आते थे और फिर विकृत रूप में पृथक् हो जाते थे, मानो श्वेतवसना सुंदरियाँ उसके हाँथों दलित और अपमानित होकर रुदन करती हुई चली जा रही हों। इस कल्पना ने मुझे इतना विकल किया कि मैंने खिड़की बंद कर दी और पलँग पर आ बैठी। मेरे प्रियतम निद्रा में मग्न थे। उनका तेजोमय मुख-मण्डल इस समय मुझे कुछ चन्द्रमा से ही मिलता-जुलता मालूम हुआ। वही सहास छवि थी, जिससे मेरे नेत्र तृप्त हो जाते थे। वही विशाल वक्ष था, जिस पर सिर रखकर मैं अपने अंतस्तल में एक कोमल, मधुर कंपन का अनुभव करती थी। वही सुदृढ़ बाँहें थीं, जो मेरे गले में पड़ जाती थीं, तो मेरे हृदय

में आनन्द की हिलोरें-सी उठने लगती थीं। पर आज कितने दिन हुए, मैंने उस मुख पर हँसी की उज्ज्वल रेखा नहीं देखी, न देखने को चित्त व्याकुल ही हुआ। कितने दिन हुए, मैंने उस वक्ष पर सिर नहीं रक्खा और न वह बाहें मेरे गले में पड़ीं। क्यों? क्या मैं कुछ और हो गई, या पतिदेव ही कुछ और हो गये!

अभी कुछ बहुत दिन भी तो नहीं बीते, कुल पाँच साल हुए हैं—कुल पाँच साल, जब पतिदेव ने विकसित नेत्रों और लालायित अधरों से मेरा स्वागत किया था। मैं लज्जा से गर्दन झुकाए हुए थी। हृदय में कितनी प्रबल उत्कंठा हो रही थी कि उनकी मुख-छवि देख लूँ; पर लज्जावश सिर न उठा सकती थी। आखिर एक बार मैंने हिम्मत करके आँखें उठाई और यद्यपि दृष्टि आधे रास्ते से ही लौट आई, तो भी उस अर्द्ध दर्शन से मुझे जो आनन्द मिला, क्या उसे कभी भूल सकती हूँ। वह चित्र अब भी मेरे हृदय-पट पर खिंचा हुआ है। जब कभी उसका स्मरण आ जाता है, हृदय पुलकित हो उठता है। उस आनन्द-स्मृति में अब भी वही गुदगुदी, वही सनसनी है! लेकिन अब रात-दिन उस छवि के दर्शन करती हूँ। उषाकाल, प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, संध्याकाल, निशाकाल, आठों पहर उसको देखती हूँ; पर हृदय में गुदगुदी नहीं होती। वह मेरे सामने खड़े मुझसे बातें किया करते हैं, मैं कोशिए की ओर देखती रहती हूँ। जब वह घर से निकलते थे, तो मैं द्वार पर आकर खड़ी हो जाती थी। और, जब वह पीछे फिर कर मुस्किरा देते थे, तो मुझे मानो स्वर्ग का राज्य मिल जाता

था। मैं तीसरे पहल कोठे पर चढ़ जाती थी, और उनके आने की बाट जोहने लगती थी। उनको दूर से आते देकर मैं उन्मत्त-सी होकर नीचे आती और द्वार पर जाकर उनको अभिवादन करती। पर अब मुझे यह भी नहीं मालूम होता कि वह कब जाते और कब आते हैं। जब बाहर का द्वार बंद हो जाता है, तो समझ जाती हूँ कि वह चले गये ; जब द्वार खुलने की आवाज़ आती है, तो समझ जाती हूँ कि आ गये। समझ में नहीं आता कि मैं ही कुछ और हो गई या पतिदेव ही कुछ और हो गये।

तब वह घर में बहुत न आते थे। जब उनकी आवाज़ कानों में आ जाती, तो मेरी देह में बिजली-सी दौड़ जाती थी। उनकी छोटी-छोटी बातों, छोटे-छोटे कामों को भी मैं अनुरक्त, मुग्ध नेत्रों से देखा करती थी। वह जब छोटे लाला को गोद में उठाकर प्यार करते थे, जब टामी का सिर थपथपाकर उसे लिटा देते थे, जब बूढ़ी भक्तिन को चिढ़ाकर बाहर भाग जाते थे, जब बाल्टियों में पानी भर-भरकर पौदों को सींचते थे, तब ये आँखें उसी ओर लगी रहती थीं। पर अब वह सारे दिन घर में रहते हैं, मेरे सामने हँसते हैं, बोलते हैं, मुझे खबर भी नहीं होती। न-जाने क्यों ?

तब किसी दिन उन्होंने फूलों का एक गुलदस्ता मेरे हाथ में रख दिया था और मुस्किराए थे। वह प्रणय का उपहार पाकर मैं फूली न समाई थी। केवल थोड़े-से फूल और पत्तियाँ थीं ; पर उन्हें देखने से मेरी आँखें किसी भाँति तृप्त ही न होती थीं। कुछ देर हाथ में लिए रही, फिर अपनी मेज़ पर, फूलदान में, रख

दिया। कोई काम करती होती, तो बार-बार आकर उस गुलदस्ते को देख जाती। कितनी बार उसे आँखों से लगाया, कितनी बार उसे चूमा! कोई एक लाख रुपये भी देता, तो उसे न देती। उसकी एक-एक पँखड़ी मेरे लिये एक-एक रत्न थी। जब वह मुरझा गया, तो मैंने उसे उठाकर अपने बक्स में रख दिया था। तब से उन्होंने मुझे हज़ारों चीज़ें उपहार में दी हैं—एक-से-एक रत्न-जटित आभूषण हैं, एक-से-एक बहुमूल्य वस्त्र हैं, और गुल-दस्ते तो प्रायः नित्य ही लाते हैं; लेकिन इन चीज़ों को पाकर वह उल्लास नहीं होता। मैं उन चीज़ों को पहनकर आईने में अपना रूप देखती हूँ और गर्व से फूल उठती हूँ। अपनी हम-जोलियों को दिखाकर अपना गौरव और उनकी ईर्षा बढ़ाती हूँ। बस!

अभी थोड़े ही दिन हुए हैं, उन्होंने मुझे यह चंद्रहार दिया है। जो इसे देखता है, मोहित हो जाता है। मैं भी उसकी बनावट और सजावट पर मुग्ध हूँ। मैंने अपना संदूक खोला और उस गुलदस्ते को निकाल लाई। आह! उसे हाथ में लेते ही मेरी एक-एक नस में बिजली दौड़ गई। हृदय के सारे तार कंपित हो गये। वह सूखी हुई पँखड़ियाँ, जो अब पीले रंग की हो गई थीं, बोलती हुई मालूम होती थीं। उनके सूखे, मुरझाए हुए मुखों से अस्फुटित, कंपित, अनुराग में डूबे शब्द साँय-साँय करके निकलते हुए जान पड़ते थे; किंतु वह रत्न-जटित, क्रांति से दमकता हुआ हार स्वर्ण और पत्थरों का एक समूह था, जिसमें प्राण न थे, संज्ञा न थी,

मर्म न था। मैंने फिर गुलदस्ते को चूमा, कण्ठ से लगाया, आर्द्र नेत्रों से सींचा और फिर संदूक में रख आई। आभूषणों से भरा हुआ संदूक उस एक स्मृति-चिह्न के सामने तुच्छ था। यह क्या रहस्य था!

फिर मुझे उनके एक पुराने पत्र की याद आ गई। उसे उन्होंने कालेज से मेरे पास भेजा था। उसे पढ़कर मेरे हृदय में जो आँदोलन हुआ था, जो तूफान उठा था, आँखों से जो नदी बही थी, क्या उसे कभी भूल सकती हूँ! उस पत्र को मैंने अपनी सोहाग की पिटारी में रख दिया था। इस समय उस पत्र को पढ़ने की प्रबल इच्छा हुई। मैंने पिटारी से वह पत्र निकाला। उसे स्पर्श करते ही मेरे हाथ काँपने लगे, हृदय में धड़कन होने लगी। मैं कितनी देर उसे हाथ में लिए खड़ी रही, कह नहीं सकती। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मैं फिर वही हो गई हूँ, जो पत्र पाते समय थी। उस पत्र में क्या प्रेम के कवित्तमय उद्गार थे? क्या प्रेम की साहित्यिक विवेचना थी? क्या वियोग व्यथा का करुण क्रंदन था? उसमें तो प्रेम का एक शब्द भी न था। लिखा था—'कामिनी, तुमने आठ दिनों से कोई पत्र नहीं लिखा। क्यों नहीं लिखा? अगर तुम मुझे पत्र न लिखोगी, तो मैं होली की छुट्टियों में घर न आऊँगा, इतना समझ लो। आखिर तुम सारे दिन क्या किया करती हो? मेरे उपन्यासों की आल्मारी खोल ली है क्या? आपने मेरी आल्मारी क्यों खोली? समझती होगी, मैं पत्र न लिखूँगी, तो बचा खूब रोएँगे और हैरान होंगे। यहाँ

इसकी परवा नहीं। नौ बजे रात को सोता हूँ, तो आठ बजे उठता हूँ। कोई चिन्ता है, तो यही कि फेल न हो जाऊँ। अगर फेल हुआ, तो तुम जानोगी ?'

कितना सरल, भोलेभाले हृदय से निकला हुआ, निष्कपट मानपूर्ण आग्रह और आतंक से भरा हुआ पत्र था, मानो उनका सारा उत्तरदायित्व मेरे ही ऊपर था। ऐसी धमकी क्या अब भी वह मुझे दे सकते हैं ? कभी नहीं। ऐसी धमकी वही दे सकता है, जो न मिल सकने की व्यथा को जानता हो, उसका अनुभव करता हो। पतिदेव अब जानते हैं, इस धमकी का मुझ पर कोई असर न होगा, मैं हसूँगी और आराम से सोऊँगी ; क्योंकि मैं जानती हूँ, वह अवश्य आवेंगे। और उनके लिए ठिकाना ही कहाँ है ? जा ही कहाँ सकते हैं ? तब से उन्होंने मेरे पास कितने ही पत्र लिखे हैं। दो दिन को भी बाहर जाते हैं, तो जरूर एक पत्र भेजते हैं, और जब दस-पाँच दिन को जाते हैं, तो नित्यप्रति एक पत्र आता है। पत्रों में प्रेम के चुने हुए शब्द, चुने हुए वाक्य, चुने हुए संबोधन भरे होते हैं। मैं उन्हें पढ़ती हूँ और एक ठंडी साँस लेकर रख देती हूँ। हाय ! वह हृदय कहाँ गया ? प्रेम के इन निर्जीव, भावशून्य, कृत्रिम शब्दों में वह अभिन्नता कहाँ है, वह रस कहाँ है ! वह उन्माद कहाँ है, वह क्रोध कहाँ है, वह झुँझलाहट कहाँ है ! उनमें मेरा मन कोई वस्तु खोजता है—कोई अज्ञात, अव्यक्त, अलक्षित वस्तु—पर वह नहीं मिलती। उनमें सुगन्ध भरी होती है, पत्रा के कागज़ आर्टपेपर को मात करते हैं ; पर उनका यह सारा

बनाव-संवार किसी गत-यौवना नायिका के बनाव-सिंगार के सदृश ही लगता है। कभी-कभी तो मैं पत्रों को खोलती भी नहीं। मैं जानती हूँ, उनमें क्या लिखा होगा।

उन्हीं दिनों की बात है, मैंने तीजे का व्रत किया था। मैंने देवी के सन्मुख सिर झुकाकर वंदना की थी—देवि, मैं तुमसे केवल एक वरदान माँगती हूँ। हम दोनों प्राणियों में कभी विच्छेद न हो और मुझे कोई अभिलाषा नहीं, मैं संसार की और कोई वस्तु नहीं चाहती। तब से चार साल हो गये हैं, और हममें एक दिन के लिये भी विच्छेद नहीं हुआ। मैंने तो केवल एक वरदान माँगा था। देवी ने वरदानों का भंडार ही मुझे सौंप दिया। पर आज मुझे देवी के दर्शन हों, तो मैं उनसे कहूँ, तुम अपने सारे वरदान ले लो। मैं इनमें से एक भी नहीं चाहती। मैं फिर वही दिन देखना चाहती हूँ, जब हृदय में प्रेम की अभिलाषा थी, तुमने सब कुछ देकर मुझे उस अतुल सुख से वंचित कर दिया, जो अभिलाषा में था! मैं अब की देवी से वह दिन दिखाने की प्रार्थना करूँ, जब मैं किसी निर्जन जलतट और सघन बन में अपने प्रियतम को ढूँढ़ती फिरूँ। नदी के लहरों से कहूँ, मेरे प्रियतम को तुमने देखा है? वृक्षों से पूछूँ. मेरे प्रियतम कहाँ गये। क्या वह सुख मुझे कभी प्राप्त न होगा? उसी समय मंद, शीतल पवन चलने लगा। मैं खिड़की के बाहर सिर निकाले खड़ी थी। पवन के झोंके से मेरे केश की लटें बिखरने लगीं। मुझे ऐसा आभास हुआ, मानो मेरे प्रियतम वायुक इन उच्छ्वासों में हैं। फिर

मैंने आकाश की ओर देखा। चाँद की किरणें चाँदी के जगमगाते तारों की भाँति आँखों से आँख मिचौनी-सी खेल रही थीं। आँख बंद करते समय सामने आ जातीं; पर आँखें खोलते ही अदृश्य हो जाती थीं। मुझे उस समय ऐसा आभास हुआ कि मेरे प्रियतम उन्हीं जगमगाते तारों पर बैठे आकाश से उतर रहे हैं। उसी समय किसी ने गाया—

अनोखे-से नेही के त्याग,
निराले पीड़ा के संसार!
कहाँ होते हो अंतर्द्धान,
लुटा करके सोने-सा प्यार!

'लुटा करके सोने-सा प्यार', यह पद मेरे मर्मस्थल को तीर की भाँति छेदता हुआ कहाँ चला गया, नहीं जानती। मेरे रोएँ खड़े हो गये। आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। ऐसा मालूम हुआ, जैसे कोई मेरे प्रियतम को मेरे हृदय से निकाले लिए जाता है। मैं जोर से चिल्ला पड़ी। उसी समय पतिदेव की नींद टूट गई। वह मेरे पास आकर बोले—क्या अभी तुम चिल्लाई थीं? अरे! तुम तो रो रही हो? क्या बात है? कोई स्वप्न तो नहीं देखा?

मैंने सिसकते हुए कहा—रोऊँ न, तो क्या हँसूँ?

स्वामी ने मेरा हाथ पकड़कर कहा—क्यों, रोने का कोई कारण है, या यों ही रोना चाहती हो?

'क्या मेरे रोने का कारण तुम नहीं जानते?'

'मैं तुम्हारे दिल की बात कैसे जान सकता हूँ।'

'तुमने जानने की कभी चेष्टा की है?'

'मुझे इसका सान-गुमान भी न था कि तुम्हारे रोने का कोई कारण हो सकता है।'

'तुमने तो बहुत कुछ पढ़ा है, क्या तुम भी ऐसी बात कह सकते हो?'

स्वामी ने विस्मय में पड़कर कहा—'तुम तो पहेलियाँ बुझवाती हो?'

'क्यों, क्या तुम कभी नहीं रोते?'

'मैं क्यों रोने लगा?'

'तुम्हें अब कोई अभिलाषा नहीं है?'

'मेरी सबसे बड़ी अभिलाषा पूरी हो गई। अब मैं और कुछ नहीं चाहता।'

यह कहते हुए पतिदेव मुस्किराए और मुझे गले से लिपटा लेने को बढ़े। उनकी यह हृदय-हीनता इस समय मुझे बहुत बुरी लगी। मैंने उन्हें हाथों से पीछे हटाकर कहा—मैं इस स्वाँग को प्रेम नहीं समझती। जो कभी रो नहीं सकता, वह प्रेम नहीं कर सकता। रुदन और प्रेम, दोनों एक ही स्रोत से निकले हैं।

उसी समय फिर उसी गाने की ध्वनि सुनाई दी—

अनोखे-से नेही के त्याग,
निराले पीड़ा के संसार!
कहाँ होते हो अंतर्द्धान,
लुटा करके सोने-सा प्यार!

पतिदेव के मुख की वह मुस्किराहट लुप्त हो गई। मैंने उन्हें एक बार काँपते देखा। ऐसा जान पड़ा, उन्हें रोमांच हो रहा है। सहसा उनका दाहना हाथ उठकर उनकी छाती तक गया। उन्हों ने लंबी साँस ली और उनकी आँखों से आँसू की बूँदें निकल कर गालों पर आ गईं। तुरन्त मैंने रोते हुए उनकी छाती पर सिर रख दिया और उस परम सुख का अनुभव किया, जिसके लिये कितने दिनों से मेरा हृदय तड़प रहा था। आज फिर मुझे पतिदेव का हृदय धड़कता हुआ सुनाई दिया, आज उनके स्पर्श में फिर स्फूर्ति का ज्ञान हुआ।

अभी तक उस पद के शब्द मेरे हृदय में गूँज रहे थे—

कहाँ होते हो अंतर्द्धान
लुटा करके सोने-सा प्यार * ।

---

* श्रीमती महादेवी वर्मा की कविता का एक पद ।

खुचड़

बाबू कुन्दनलाल कचहरी से लौटे, तो देखा कि उनकी पत्नीजी एक कुँजड़िन से कुछ शाक-भाजी ले रही हैं। कुँजड़िन पालक टके सेर कहती है, वह डेढ़ पैसे दे रही हैं। इस पर कई मिनट विवाद होता रहा। आखिर कुँजड़िन डेढ़ ही पैसे पर राज़ी हो गई। अब तराजू और बाँट का प्रश्न छिड़ा। दोनों पल्ले बराबर न थे। एक में पसंघा था। बाँट भी पूरे न उतरते थे। पड़ोसिन के घर से सेर आया। साग तुल जाने के बाद अब घाटे का प्रश्न उठा। पत्नीजी और माँगती थीं, कुँजड़िन कहती थी, अब क्या सेर-दो-सेर घाटे में ही ले लोगी बहूजी। खैर, आध घंटे में यह सौदा पूरा हुआ, और कुँजड़िन, फिर कभी न आने की धमकी देकर, विदा हुई। कुन्दनलाल खड़े-खड़े यह तमाशा देखते रहे। कुँजड़िन के जाने के बाद पत्नीजी लोटे का पानी लाईं, तो आपने कहा—आज तो तुमने ज़रा-सा साग लेने में पूरे आध घंटे लगा दिए। इतनी देर में तो हज़ार-पाँच सौ का सौदा हो जाता। ज़रा-ज़रा-से साग के लिये इतनी ठायँ-ठायँ करते तुम्हारा सिर भी नहीं दुखता ?

रामेश्वरी ने कुछ लज्जित होकर कहा—पैसे मुफ्त में तो नहीं आते !

'इतने भिखमंगे आ कहाँ से जाते हैं ? ये सब काम क्यों नहीं करते ?'

'कोई आदमी इतना नीच नहीं होता, जो काम मिलने पर भीख माँगे। हाँ, अपंग हो, तो दूसरी बात है। अपंगों का भीख के सिवा और क्या सहारा हो सकता है ?'

'सरकार इनके लिये अनाथालय क्यों नहीं खुलवाती ?'

'जब स्वराज्य हो जायगा, तब शायद खुल जायँ; अभी तो कोई आशा नहीं है। मगर स्वराज्य भी धर्म ही से आएगा।'

'लाखों साधु-संन्यासी, पंडे-पुजारी मुफ्त का माल उड़ाते हैं, क्या इतना धर्म काफ़ी नहीं है ? अगर इस धर्म से स्वराज्य मिलता, तो कब का मिल चुका होता।'

'इसी धर्म का प्रसाद है कि हिंदू-जाति अभी तक जीवित है, नहीं कब को रसातल पहुँच चुकी होती। रोम, यूनान, ईरान, असीरिया किसी का अब निशान भी नहीं है। यह हिंदू-जाति है, जो अभी तक समय के क्रूर आघातों का सामना करती चली जाती है।'

'आप समझते होंगे, हिंदू-जाति जीवित है। मैं तो उसे उसी दिन से मरा हुआ समझती हूँ, जिस दिन से वह अधीन हो गई। जीवन स्वाधीनता का नाम है, गुलामी तो मौत है।'

कुंदनलाल ने युवती को चकित नेत्रों से देखा, ऐसे विद्रोही विचार उसमें कहाँ से आ गये ? देखने में तो वह बिलकुल भोली थी। समझे, कहीं सुन-सुना लिया होगा। कठोर होकर बोले—

क्या व्यर्थ का विवाद करती हो। लजाती तो नहीं, ऊपर से और बक-बक करती हो।

रामेश्वरी यह फटकार पाकर चुप हो गई। एक क्षण वहाँ खड़ी रही, फिर धीरे-धीरे कमरे से चली गई।

(३)

एक दिन कुंदनलाल ने कई मित्रों की दावत की। रामेश्वरी सवेरे से रसोई में घुसी, तो शाम तक सिर न उठा सकी। उसे यह बेगार बुरी मालूम हो रही थी। अगर दोस्तों की दावत करनी थी, तो खाना बनवाने का कोई प्रबन्ध क्यों नहीं किया? सारा बोझ उसी के सिर क्यों डाल दिया? उससे एक बार पूछ तो लिया होता कि दावत करूँ या न करूँ। होता तब भी यही, जो अब हो रहा था। वह दावत के प्रस्ताव का बड़ी खुशी से अनुमोदन करती, तब वह समझती, दावत मैं कर रही हूँ। अब वह समझ रही थी, मुझसे बेगार ली जा रही है। खैर, भोजन तैयार हुआ, लोगों ने भोजन किया और चले गये; मगर मुंशी जी मुँह फुलाए बैठे हुए थे। रामेश्वरी ने कहा—तुम क्यों नहीं खा लेते, या अभी सवेरा है?

बाबू साहब ने आँखें फाड़कर कहा—क्या खा लूँ, यह खाना है, या बैलों की सानी!

रामेश्वरी के सिर से पाँव तक आग लग गई। सारा दिन चूल्हे के सामने जली, उसका यह पुरस्कार! बोली—मुझसे जैसा हो सका, बनाया। जो बात अपने बस की नहीं है, उसके लिये क्या करती?

'पूड़ियाँ सब सेवड़ी हैं !'

'होंगी'

'कचौड़ी में इतना नमक था कि किसी ने छुआ तक नहीं।'

'होगा'

'हलुआ अच्छी तरह भुना नहीं—कचाइँध आ रही थी।'

'आती होगी'

'शोर्वा इतना पतला था, जैसे चा।'

'होगा'

'स्त्री का पहला धर्म यह है कि वह रसोई के काम में चतुर हो।'

फिर उपदेशों का तार बँधा, यहाँ तक कि रामेश्वरी ऊबकर चली गई।

(४)

पाँच-छः महीने गुज़र गये। एक दिन कुंदनलाल के एक दूर के सम्बन्धी उनसे मिलने आए। रामेश्वरी को ज्योंही उनकी ख़बर मिली, जल-पान के लिये मिठाई भेजी; और महरी से कहला भेजा—आज यहीं भोजन कीजिएगा। वह महाशय फूले न समाये। बोरिया-बँधना लेकर पहुँच गये और डेरा डाल दिया। एक हफ्ता गुज़र गया; मगर आप टलने का नाम भी नहीं लेते। आव-भगत में कोई कमी होती, तो शायद उन्हें कुछ चिंता होती; पर रामेश्वरी उनके सेवा-सत्कार में जी-जान से लगी हुई थी। फिर वह भला क्यों हटने लगे।

एक दिन कुन्दनलाल ने कहा—तुमने यह बुरा रोग पाला।

रामेश्वरी ने चौंककर पूछा—कैसा रोग ?

'इन्हें टहला क्यों नहीं देतीं ?'

'मेरा क्या बिगाड़ रहे हैं ?'

'कम-से कम १) की रोज़ चपत दे रहे हैं। और, अगर यही ख़ातिरदारी रही, तो शायद जीते-जी टलेंगे भी नहीं।'

'मुझसे तो यह नहीं हो सकता कि कोई दो-चार दिन के लिये आ जाय, तो उसके सिर हो जाऊँ। जब तक उनकी इच्छा हो, रहें।'

'ऐसे मुफ्तख़ोरों का सत्कार करना पाप है। अगर तुमने इसे इतना सिर न चढ़ाया होता, तो अब तक लंबा हुआ होता। जब दिन में तीन बार जल-पान, तीन बार भोजन और पचासों बार पान मिलता है, तो उसे कुत्ते ने काटा है, जो अपने घर जाय !'

'रोटी का चोर बनना तो अच्छा नहीं !'

'कुपात्र और सुपात्र का विचार तो कर लेना चाहिए। ऐसे आलसियों को खिलाना-पिलाना वास्तव में उन्हें जहर देना है। जहर से तो केवल प्राण निकल जाते हैं, यह ख़ातिरदारी तो आत्मा का सर्वनाश कर देती हैं। अगर यह हज़रत महीने-भर भी यहाँ रह गये, तो फिर जिंदगी-भर के लिये बेकार हो जायँगे। फिर इनसे कुछ न होगा, और इसका सारा दोष तुम्हारे सिर होगा।'

तर्क का ताँता बँध गया। प्रमाणों की झड़ी लग गई। रामेश्वरी खिसिया कर चली गई। कुंदनलाल उससे कभी संतुष्ट भी हो

सकते हैं, उनके उपदेशों की वर्षा कभी बन्द भी हो सकती है, यह प्रश्न उसके मन में बार-बार उठने लगा।

(५)

एक दिन देहात से भैंस का ताज़ा घी आया। इधर महीनों से बाज़ार का घी खाते-खाते नाक में दम हो रहा था। रामेश्वरी ने उसे खौलाया, उसमें लौंग डाली और कड़ाह से निकाल कर एक मटकी में रख दिया। उसकी सोंधी-सोंधी सुगंध से सारा घर महक रहा था। महरी चौका-बर्तन करने आई, तो उसने चाहा कि मटकी को चौके से उठाकर छींके या आले पर रख दे। पर संयोग की बात, उसने मटकी उठाई, तो वह उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ी। सारा घी बह गया। धमाका सुनकर रामेश्वरी दौड़ी, तो महरी खड़ी रो रही थी, और मटकी चूर-चूर हो गई थी। तड़पकर बोली—मटकी कैसे टूट गई ? मैं तेरी तलब से काट लूँगी। राम-राम ! सारा घी मिट्टी में मिला दिया ! तेरी आँखें फुट गई थीं क्या ? या हाथों में दम नहीं था ? इतनी दूर से मँगाया, इतनी मिहनत से गर्म किया ; मगर एक बूँद भी गले के नीचे न गया। अब खड़ी बिसूर क्या रही है, जा अपना काम कर।

महरी ने आँसू पोंछकर कहा—बहूजी, अब तो चूक हो गई, चाहे तलब काटो, चाहे जान मारो। मैंने तो सोचा—उठाकर आले पर रख दूँ, तो चौका लगाऊँ। क्या जानती थी कि भाग्य में यह लिखा है। न-जाने किस अभागे का मुँह देखकर उठी थी।

रामेश्वरी—मैं कुछ नहीं जानती, सब रुपए तेरी तलब से वसूल कर लूँगी। एक रुपया जुरमाना न किया, तो कहना।

महरी—मर जाऊँगी सरकार, कहीं एक पैसे का ठिकाना नहीं है।

रामेश्वरी—मर जा या जी जा, मैं कुछ नहीं जानती।

महरी ने एक मिनट तक कुछ सोचा और बोली—अच्छा काट लीजिएगा सरकार। आपसे सबर नहीं होता, मैं सबर कर लूँगी। यही न होगा, भूखों मर जाऊँगी। जीकर ही कौन-सा सुख भोग रही हूँ कि मरने को डरूँ। समझ लूँगी, एक महीना कोई काम नहीं किया। आदमी से बड़ा-बड़ा नुक़सान हो जाता है, यह तो घी ही था।

रामेश्वरी को एक ही क्षण में महरी पर दया आ गई। बोली—तू भूखों मर जायगी, तो मेरा काम कौन करेगा।

महरी—काम कराना होगा, खिलाइयेगा, न काम कराना होगा, भूखों मारिएगा। आज से आकर आप ही के द्वार पर सोया करूँगी।

रामेश्वरी—सच कहती हूँ, आज तूने बड़ा नुक़सान कर डाला।

महरी—मैं तो आप ही पछता रही हूँ सरकार।

रामेश्वरी—जो गोबर से चौका लीप दे, मटकी के टुकड़े दूर फेंक दें। और बाजार से घी लेती आ।

महरी ने खुश होकर चौका गोबर से लीपा, और मटकी के टुकड़े बटोर ही रही थी कि कुंदनलाल आ गए, और हाँडी टूटी देखकर बोले—यह हाँडी कैसे टूट गई?

रामेश्वरी ने कहा—महरी उठाकर ऊपर रख रही थी, उसके हाथ से छूट पड़ी।

कुन्दनलाल ने चिल्लाकर कहा—तो सब घी बह गया ?

'और क्या कुछ बच भी रहा !'

'तुमने महरी से कुछ कहा नहीं !'

'क्या कहती। उसने जान-बूझकर तो गिरा नहीं दिया।'

'यह नुक़सान कौन उठाएगा ?'

'हम उठावेंगे, और कौन उठावेगा। अगर मेरे ही हाथ से छूट पड़ती, तो क्या हाथ काट लेती।'

कुंदनलाल ने ओठ चबाकर कहा—तुम्हारी कोई बात मेरी समझ में नहीं आती। जिसने नुकसान किया है, उससे वसूल होना चाहिए। यही ईश्वरीय नियम है। आँख की जगह आँख, प्राण के बदले प्राण, यह ईसा-मसीह-जैसे दयालु पुरुष का कथन है। अगर दंड का विधान संसार से उठ जाय, तो यहाँ रहे कौन ? सारी पृथ्वी रक्त से लाल हो जाय, हत्यारे दिन-दहाड़े लोगों का गला काटने लगें। दंड ही से समाज की मर्यादा कायम है। जिस दिन दंड न रहेगा, संसार न रहेगा। मनु आदि स्मृतिकार बेवकूफ नहीं थे कि दंड-न्याय को इतना महत्व दे गये। और किसी विचार से नहीं, तो मर्यादा की रक्षा के लिये दंड अवश्य देना चाहिए। ये रुपए महरी को देने पड़ेंगे। उसकी मजदूरी काटनी पड़ेगी। नहीं, तो आज उसने घी का घड़ा लुढ़का दिया है, कल को कोई और नुकसान कर देगी।

रामेश्वरी ने डरते-डरते कहा—मैंने तो उसे क्षमा कर दिया है।

कुंदनलाल ने आँखें निकाल कर कहा—लेकिन मैं नहीं क्षमा कर सकता।

महरी द्वार पर खड़ी यह विवाद सुन रही थी। जब उसने देखा कि कुंदनलाल का क्रोध बढ़ता ही जाता है, और मेरे कारण रामेश्वरी को घुड़कियाँ सुननी पड़ रही हैं, तो वह सामने जाकर बोली—बाबूजी, अब तो कसूर हो गया। आप सब रुपए मेरी तलब से काट लीजिए। रुपए नहीं हैं, नहीं तो अभी लाकर आपके हाथ पर रख देती।

रामेश्वरी ने उसे घुड़ककर कहा—जा भाग यहाँ से, तू क्या करने आई? बड़ी रुपएवाली बनी है!

कुंदनलाल ने पत्नी की ओर कठोर नेत्रों से देखकर कहा—तुम क्यों उसकी वकालत कर रही हो? यह मोटी-सी बात है, और इसे एक बच्चा भी समझता है कि जो नुकसान करता है, उसे उसका दंड भोगना पड़ता है। मैं क्यों पाँच रुपए का नुकसान उठाऊँ? वजह? क्यों नहीं इसने मटके को सँभालकर पकड़ा, क्यों इतनी जल्दबाजी की, क्यों तुम्हें बुलाकर मदद नहीं ली। यह साफ़ इसकी ला परवाई है।

यह कहते हुए कुंदनलाल बाहर चले गये।

(६)

रामेश्वरी इस अपमान से आहत हो उठी डाँटना ही था, तो कमरे में बुलाकर एकांत में डाँटते। महरी के सामने उसे रुई की

तरह तूम डाला। उसकी समझ ही में न आता था, यह किस स्वभाव के आदमी हैं। आज एक बात कहते हैं, कल उसी को काटते हैं, जैसे कोई झक्की आदमी हो। कहाँ तो दया और उदारता के अवतार बनते थे, कहाँ आज पाँच रुपये के लिये प्राण देने लगे। बड़ा मज़ा आ जाय, जो कल महरी बैठ रहे। कभी तो इनके मुख से प्रसन्नता का एक शब्द निकला होता! अब मुझे भी अपना स्वभाव बदलना पड़ेगा। यह सब मेरे सीधे होने का फल है। ज्यों-ज्यों मैं तरह देती हूँ, आप जामे से बाहर होते हैं। इसका इलाज यही है कि एक कहें, तो दो सुनाऊँ। आख़िर कब तक और कहाँ तक सहूँ! कोई हद भी हो! जब देखो डाँट रहे हैं। जिसके मिज़ाज का कुछ पता ही न हो, उसे कौन खुश रख सकता है। उस दिन ज़रा-सा बिल्ली को मार दिया, तो आप दया का उपदेश करने लगे। आज वह दया कहाँ गई। इनको ठीक करने का उपाय यही है कि समझ लूँ, कोई कुत्ता भूँक रहा है। नहीं, ऐसा क्यों करूँ। अपने मन से कोई काम ही न करूँ, जो यह कहें, वही करूँ, न जौ-भर-कम, न जौ-भर ज्यादा। जब इन्हें मेरा कोई काम पसंद ही नहीं आता, तो मुझे क्या कुत्ते ने काटा है, जो बरबस अपनी टाँग अड़ाऊँ। बस, यही ठीक है।

वह रात-भर इसी उधेड़-बुन में पड़ी रही। सवेरे कुन्दनलाल नदी स्नान करने गये। लौटे, तो नौ बज गए थे। घर में जाकर देखा, तो चौका-बर्तन न हुआ था। प्राण सूख गए। पूछा—क्या महरी नहीं आई?

कुंदन०—आखिर तुम क्या खाओगी ?

रामे०—जो आप दे देंगे, वह खा लूँगी।

कुंदन०—लाओ, बाजार से पूड़ियाँ ला दूँ।

रामेश्वरी रुपया निकाल लाई। कुंदनलाल पूड़ियाँ लाए। इस वक्त का काम चला। दफ्तर गए। लौटे, तो देर हो गई थी। आते-ही-आते पूछा—महरी आई ?

रामे०—नहीं।

कुंदन०—मैंने तो कहा था, पड़ोसवाली को बुला लेना।

रामे०—बुलाया था। वह पाँच रुपये माँगती है।

कुंदन०—तो एक ही रुपए का तो फर्क था, क्यों नहीं रख लिया ?

रामे०—मुझे यह हुक्म न मिला था। मुझसे जवाब तलब होता कि एक रुपया ज्यादा क्यों दे दिया, खर्च की किफ़ायत पर उपदेश दिया जाने लगता, तो क्या करती।

कुंदन०—तुम बिलकुल मूर्ख हो।

रामे०—बिलकुल।

कुंदन०—तो इस वक्त भी भोजन न बनेगा ?

रामे०—मजबूरी है।

कुंदनलाल सिर थामकर चारपाई पर बैठ गये। यह तो नई विपत्ति गले पड़ी। पूड़ियाँ उन्हें रुचती न थीं। जी में बहुत झुँझलाए। रामेश्वरी को दो-चार उल्टी-सीधी सुनाई; लेकिन उसने मानो सुना ही नहीं। कुछ बस न चला, तो महरी की तलाश

में निकले। मगर जिसके यहाँ गये, मालूम हुआ, महरी काम कर के चली गई। आखिर एक कहार मिला। उसे बुला लाए। कहार ने दो आने लिए और बर्तन धोकर चलता बना।

रामेश्वरी ने कहा—भोजन क्या बनेगा ?

कुंदन०—रोटी-तरकारी बना लो, या इसमें भी कुछ आपत्ति है।

रामे०—तरकारी घर में नहीं है ?

कुंदन०—दिन-भर बैठी रही, तरकारी भी न लेते बनी ? अब इतनी रात गए तरकारी कहाँ मिलेगी !

रामे०—मुझे तरकारी ले रखने का हुक्म न मिला था। मैं पैसा-धेला ज्यादा दे देती तो।

कुंदनलाल ने विवशता से दाँत पीसकर कहा—आखिर तुम क्या चाहती हो ?

रामेश्वरी ने शांत-भाव से जवाब दिया—कुछ नहीं, केवल अपमान नहीं चाहती।

कुंदन०—तुम्हारा अपमान कौन करता है ?

रामे०—आप करते हैं !

कुंदन०—तो मैं घर के मामले में कुछ न बोलूँ ?

रामेश्वरी—आप न बोलेंगे, तो कौन बोलेगा। मैं तो केवल हुक्म की ताबेदार हूँ।

रात रोटी-दाल पर कटी। दोनों आदमी लेटे। रामेश्वरी को तो तुरंत नींद आ गई। कुन्दनलाल बड़ी देर तक करवटें बदलते रहे। अगर रामेश्वरी इस तरह असहयोग करेगी, तो एक दिन

भी काम न चलेगा। आज ही बड़ी मुश्किल से भोजन मिला। इसकी समझी ही उलटी है। मैं तो समझाता हूँ, यह समझती है, डाँट रहा हूँ। मुझसे बिना बोले रहा भी तो नहीं जाता। लेकिन अगर बोलने का यह नतीजा है, तो फिर बोलना फिजूल है। नुक-सान होगा, बला से, यह तो न होगा कि दफ्तर से आकर बाज़ार भागूँ। महरी से रुपये वसूल करने की बात इसे बुरी लगी, और थी भी बेजा। रुपये तो न मिले, उलटे महरी ने काम छोड़ दिया।

रामेश्वरी को जगाकर बोले कितना सोती हो तुम?

रामे०—मजूरों को अच्छी नींद आती है।

कुंदन०—चिढ़ाओ मत महरी से रुपए न वसूल करना।

रामे०—वह तो लिए खड़ी है शायद।

कुंदन०—उसे मालूम हो जायगा, तो काम करने आएगी।

रामे०—अच्छी बात है कहला भेजूँगी।

कुंदन०—आज से मैं कान पकड़ता हूँ, तुम्हारे बीच में न बोलूँगा।

रामे०—और जो मैं घर लुटा दूँ तो?

कुन्दन०—लुटा दो, चाहे मिटा दो, मगर रूठो मत। अगर तुम किसी बात में मेरी सलाह पूछोगी, तो दे दूँगा, वरना मुँह न खोलूँगा।

रामे०—मैं अपमान नहीं सह सकती।

कुंदन०—इस भूल को क्षमा करो।

'रामे०—सच्चे दिल से कहते हो न?

कुंदन०—सच्चे दिल से।

आगा-पीछा

रूप और यौवन के चंचल विलास के बाद कोकिला अब उस कलुषित जीवन के चिह्नों को आँसुओं से धो रही थी। विगत जीवन की याद आते ही उसका दिल बेचैन हो जाता, और वह विषाद और निराशा से विकल होकर पुकार उठती—हाय ! मैंने संसार में जन्म ही क्यों लिया ? उसने दान और व्रत से उन कालिमाओं को धोने का प्रयत्न किया, और जीवन के वसंत की सारी विभूति इस निष्फल प्रयास में लुटा दी। पर यह जागृति क्या किसी महात्मा का वरदान या किसी अनुष्ठान का फल थी ? नहीं, यह उस नवजात शिशु के प्रथम दर्शन का प्रसाद था, जिसके जन्म ने आज पंद्रह साल से उसकी सूनी गोद को प्रदीप्त कर दिया था। शिशु का मुख देखते ही उसके नीले होठों पर एक क्षीण, करुण, उदास मुस्किराहट झलक गई—पर केवल एक क्षण के लिये। एक ही क्षण के बाद वह मुस्किराहट एक लंबी साँस में विलीन हो गई। उस अशक्त, क्षीण, कोमल रुदन ने कोकिला के जीवन का रुख फेर दिया। वात्सल्य की वह ज्योति उसके लिये जीवन-संदेश और मूक उपदेश थी।

कोकिला ने उस नवजात बालिका का नाम रक्खा—श्रद्धा।

उसी के जन्म ने तो उसमें श्रद्धा उत्पन्न की थी। वह श्रद्धा को अपनी लड़की नहीं, किसी देवी का अवतार समझती थी। उसकी सहेलियाँ उसे बधाई देने आतीं; पर कोकिला बालिका को उनकी नज़रों से छिपाती। उसे यह भी मंजूर न था कि उनकी पापमयी दृष्टि भी उस पर पड़े। श्रद्धा ही अब उसकी विभूति, उसकी आत्मा, उसका जीवन-दीपक थी। वह कभी-कभी उसे गोद में लेकर साध से छलकती हुई आँखों से देखती और सोचती—'क्या यह पावन ज्योति भी वासना के प्रचंड आघातों का शिकार होगी? मेरे प्रयत्न क्या निष्फल हो जायँगे? आह! क्या कोई ऐसी औषधि नहीं है, जो जन्म के संस्कारों को मिटा दे?' भगवान से वह सदैव प्रार्थना करती कि मेरी श्रद्धा कभी काँटों में न उलझे। वह वचन और कर्म से, विचार और व्यवहार से, उसके सम्मुख नारी-जीवन का ऊँचा आदर्श रक्खेगी। श्रद्धा इतनी सरल, इतनी प्रगल्भ, इतनी चतुर थी कि कभी-कभी कोकिला वात्सल्य से गद्-गद् होकर उसके तलवों को अपने मस्तक से रगड़ती और पश्चात्ताप तथा हर्ष के आँसू बहाती।

(२)

सोलह वर्ष बीत गए। पहले की भोली-भाली श्रद्धा अब एक सगर्व, शांत, लज्जाशील नवयौवना थी, जिसे देखकर आँखें तृप्त हो जाती थीं। विद्या की उपासिका थी; पर सारे संसार से विमुख। जिनके साथ वह पढ़ती थी, वे उससे बात भी न करना चाहती थीं। मातृ-स्नेह के वायुमंडल में पलकर वह घोर अभिमानिनी हो

गई थी। वात्सल्य के वायुमंडल, सखी-सहेलियों के परित्याग, रात-दिन की घोर पढ़ाई और पुस्तकों के एकांतवास से अगर श्रद्धा को अहंभाव हो आया, तो आश्चर्य की कौन-सी बात है। उसे किसी से भी बोलने का अधिकार न था। विद्यालय में भले घर की लड़कियाँ उसके सहवास में अपना अपमान समझती थीं। रास्ते में लोग उँगली उठा कर कहते—'कोकिला रंडी की लड़की है।' उसका सिर झुक जाता, कपोल क्षण-भर के लिये लाल होकर दूसरे ही क्षण फिर चूने की तरह सफेद हो जाते।

श्रद्धा को एकान्त से प्रेम था। विवाह को ईश्वरीय कोप समझती थी। यदि कोकिला ने कभी उसकी बात चला दी, तो उसके माथे पर बल पड़ जाते, चमकते हुए लाल चेहरे पर कालिमा छा जाती, आँखों से झर-झर आँसू बहने लगते; कोकिला चुप हो जाती। दोनों के जीवन-आदर्शों में विरोध था। कोकिला समाज के देवता की पुजारिन। श्रद्धा को समाज से, ईश्वर से और मनुष्य से घृणा। यदि संसार में उसे कोई वस्तु प्यारी थी, तो वह थी उसकी पुस्तकें! श्रद्धा उन्हीं विद्वानों के संसर्ग में अपना जीवन व्यतीत करती, जहाँ ऊँच-नीच का भेद नहीं, जाति-पाँति का स्थान नहीं—सबके अधिकार समान हैं। श्रद्धा की पूर्ण प्रकृति का परिचय, महाकवि रहीम के एक दोहे के पद से मिल जाता है—

'प्रेम सहित मरि बो भलो, जो विष देय बुलाय।'

अगर कोई सप्रेम बुलाकर उसे विष दे देता, तो वह नतजानु

हो अपने मस्तक से लगा लेती—किंतु अनादर से दिए हुए अमृत की भी उसकी नजरों में कोई हक़ीकत न थी।

एक दिन कोकिला ने आँखों में आँसू भरकर श्रद्धा से कहा—'क्यों मन्नी, सच बताना तुझे यह लज्जा तो लगती ही होगी कि मैं क्यों इसकी बेटी हुई। यदि तू किसी ऊँचे कुल में उत्पन्न हुई होती, तो क्या तब भी तेरे दिल में ऐसे विचार आते? तू मन-ही-मन मुझे जरूर कोसती होगी।'

श्रद्धा माँ का मुँह देखने लगी। माता से इतनी श्रद्धा कभी उसके दिल में पैदा नहीं हुई थी। काँपते हुए स्वर में बोली—'अम्माजी, आप मुझसे ऐसा प्रश्न क्यों करती हैं? क्या मैंने कभी आपका अपमान किया है?' कोकिला ने गद्गद होकर कहा—'नहीं बेटी, उस परम दयालु भगवान् से यही प्रार्थना है कि तुम्हारी-जैसी सुशील लड़की सबको दे। पर कभी-कभी यह विचार आता है कि तू अवश्यही मेरी बेटी होकर पछताती होगी।'

श्रद्धा ने धीर कंठ से कहा—'अम्मा, आपकी यह भावना निर्मूल है। मैं आपसे सच कहती हूँ, मुझे जितनी श्रद्धा और भक्ति आपके प्रति है, उतनी किसी के प्रति नहीं। आपकी बेटी कहलाना मेरे लिये लज्जा की बात नहीं, गौरव की बात है! मनुष्य परिस्थितियों का दास होता है। आप जिस वायुमंडल में पलीं, उसका असर तो पड़ना ही था; किन्तु पाप के दलदल में फँसकर फिर निकल आना अवश्य गौरव की बात है। बहाव की ओर नाव

खे ले जाना तो बहुत सरल है ; किन्तु जो नाविक बहाव के प्रति-कूल खे ले जाता है, वही सच्चा नाविक है।'

कोकिला ने मुस्किराते हुए पूछा—'तो फिर विवाह के नाम से क्यों चिढ़ती है?' श्रद्धा ने आँखें नीची करके उत्तर दिया—'बिना विवाह के क्या जीवन व्यतीत नहीं हो सकता? मैं कुमारी ही रह कर जीवन बिताना चाहती हूँ। विद्यालय से निकल कर कॉलेज में प्रवेश करूँगी, और फिर दो-तीन वर्ष बाद हम दोनों स्वतंत्र रूप से रह सकती हैं। डॉक्टर बन सकती हूँ, वकालत कर सकती हूँ, औरतों के लिये भी अब सब मार्ग खुल गए हैं।'

कोकिला ने डरते-डरते पूछा—'क्यों, क्या तुम्हारे हृदय में कोई दूसरी इच्छा नहीं होती? किसी से प्रेम करने की अभिलाषा तेरे मन में नहीं पैदा होती?'

श्रद्धा ने एक लम्बी साँस लेकर कहा—'अम्माजी! प्रेम-विहीन संसार में कौन है? प्रेम मानव-जीवन का सबसे श्रेष्ठ अंग है। यदि ईश्वर की ईश्वरता कहीं देखने में आती है, तो वह केवल प्रेम में। जब कोई ऐसा व्यक्ति मिलेगा, जो मुझे वरने में अपनी मान-हानि न समझेगा, तो मैं तन-मन-धन से उसकी पूजा करूँगी ; पर किस के सामने हाथ पसार प्रेम की भिक्षा माँगूँ? यदि किसी ने सुधार के क्षणिक आवेश में विवाह कर भी लिया, तो मैं प्रसन्न न हो सकूँगी। इससे तो कहीं अच्छा है कि मैं विवाह का विचार ही छोड़ दूँ।'

(३)

इन्हीं दिनों महिला-मंडल का एक उत्सव हुआ। कॉलेज के रसिक विद्यार्थी काफ़ी संख्या में सम्मिलित हुए। हाल में तिल-भर भी जगह खाली न थी। श्रद्धा भी आकर स्त्रियों की सबसे अंत की पंक्ति में खड़ी हो गई। उसे यह सब स्वाँग मालूम होता था। आज प्रथम ही बार वह ऐसी सभा में सम्मिलित हुई थी।

सभा की कार्रवाई शुरू हुई। प्रधान महोदय की वक्तता के पश्चात् प्रस्ताव पेश होने लगे, और उनके समर्थन के लिये वक्तृताएँ होने लगीं; किंतु महिलाएँ या तो अपनी वक्तृताएँ भूल गईं, या उन पर सभा का रोब ऐसा छा गया कि उनकी वक्तृत्व-शक्ति लोप हो गई। वे कुछ टूटे-फूटे जुमले बोलकर बैठने लगीं। सभा का रंग बिगड़ने लगा। कई लेडियाँ बड़ी शान से प्लेटफार्म पर आईं; किंतु दो-तीन शब्दों से अधिक न बोल सकीं। नवयुवकों को मज़ाक उड़ाने का अवसर मिला। क़हक़हे पड़ने लगे, तालियाँ बजने लगीं। श्रद्धा उनकी यह दुर्जनता देखकर तिलमिला उठी, उसका अंग-प्रत्यंग फड़कने लगा। प्लेटफार्म पर जाकर वह कुछ इस शान से बोली—कि सभा पर आतंक छा गया। कोलाहल शांत होगया। लोग टकटकी बाँधकर उसे देखने लगे। श्रद्धा स्वर्गीय बाला की भाँति धारावाहिक रूप में बोल रही थी। उसके प्रत्येक शब्द से नवीनता, सजीवता, और दृढ़ता प्रतीत होती थी। उसके नव-यौवन की सुरभि भी चारों ओर फैलकर सभा-मंडल को अवाक् कर रही थी।

सभा समाप्त हुई। लोग टीका-टिप्पणी करने लगे।

एक ने पूछा—'यह स्त्री कौन थी भई ?'

दूसरे ने उत्तर दिया—'उसी कोकिला रंडी की लड़की।'

तीसरे व्यक्ति ने कहा—'तभी यह आवाज़ और सफ़ाई है। तभी तो जादू है। जादू है जनाब—मजस्सिम जादू! क्यों न हो, माँ भी तो सितम ढाती थी। जबसे उसने अपना पेशा छोड़ा, शहर बे-जान होगया। अब मालूम होता है कि यह अपनी माँ की जगह लेगी।'

इस पर एक खद्दरधारी काला नवयुवक बोला—'क्या खूब कदरदानी फ़रमाई है जनाब ने, वाह!'

उसी व्यक्ति ने उत्तर दिया—'आपको बुरा क्यों लगा ? क्या कुछ साँठ-गाँठ तो नहीं है ?'

काले नवयुवक ने कुछ तेज़ होकर कहा—'आपको ऐसी गन्दी बातें निकालते लज्जा भी नहीं आती!'

दूसरे व्यक्ति ने कहा—'लज्जा की कौन बात है जनाब! वेश्या की लड़की अगर वेश्या हो, तो आश्चर्य की क्या बात है।'

नवयुवक ने घृणा-पूर्ण स्वर में कहा—'ठीक होगा, आप-जैसे बुद्धिमान् व्यक्तियों की समझ में! जिस रमणी के मुख से ऐसे विचार निकल सकते हैं, वह देवी है, रूप की बेचनेवाली नहीं।'

श्रद्धा उसी समय सभा से जा रही थी। यह अंतिम शब्द उसके कानों में पड़ गए। वह विस्मित और पुलकित होकर वहीं ठिठक गई। काले नवयुवक की ओर कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टि से निहारा।

और फिर बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ गई। लेकिन रास्ते-भर उसके कानों में उन्हीं शब्दों की प्रतिध्वनि गूँजती रही।

अब तक श्रद्धा की प्रशंसा करनेवाली, उसे उत्साहित करनेवाली, केवल उसी की माँ कोकिला थी, और चारों ओर वही उपेक्षा थी, वही तिरस्कार! आज एक अपरिचित, काले; किन्तु गौर-हृदयवाले, खद्दरधारी व्यक्ति के मुख से यह दाद पाकर उसका हृदय उन्मत्त हो उठा—नृत्य करने लगा! उस नवयुवक का चित्र बराबर उसकी आँखों के सामने नाचा करता। मन में प्रश्न उठता—यह कौन है? क्या करता है? क्या फिर कभी उसके दर्शन होंगे।

कॉलेज जाते समय श्रद्धा उस नवयुवक को खोई हुई आँखों से खोजती, घर पर रोज़, चिक की आड़ से, रास्ते के आते-जाते लोगों को देखती; लेकिन वह नवयुवक नज़र न आता।

कुछ दिनों बाद महिला-मंडल की दूसरी सभा का विज्ञापन निकला। अभी सभा होने को चार दिन बाकी थे। यह चारों दिन श्रद्धा ने अपना भाषण तैयार करने में बिताए। एक-एक शब्द की खोज में घंटों सिर मारती। एक-एक वाक्य को बार-बार पढ़ती। बड़े-बड़े नेताओं की स्पीचें पढ़ती और उसी तरह लिखने की कोशिश करती। जब सारी स्पीच पूरी हो गई, तो श्रद्धा अपने कमरे में जाकर कुरसियों और मेज़ों को संबोधित करके ज़ोर-ज़ोर पढ़ने लगी। भाषण-कला के सभी लक्षण जमा हो गए थे। उपसहार तो इतना सुन्दर था कि उसे अपने ही मुख से सुनकर वह

मुग्ध हो गई। इसमें कितना संगीत था, कितना आकर्षण, कितनी क्रांति!

सभा का दिन आ पहुँचा। श्रद्धा मन-ही-मन भयभीत होती हुई सभा मंडप में घुसी। हाल भरा हुआ था और पहले दिन से भी अधिक भीड़ थी। श्रद्धा को देखते ही जनता ने तालियाँ पीट कर उसका स्वागत किया। कोलाहल होने लगा, और सभी एक स्वर में चिल्ला उठे—आप अपनी वक्तृता शुरू करें।

श्रद्धा ने मंच पर आकर एक उड़ती हुई निगाह से जनता की ओर देखा। वह काला नवयुवक जगह न मिलने के कारण, अंतिम पंक्ति में, खड़ा हुआ था। श्रद्धा के दिल में गुदगुदी-सी होने लगी। उसने काँपते हुए स्वर में अपनी वक्तृता शुरू की। उसकी नजरों में सारा हाल पुतलियों से भरा हुआ था; अगर कोई जीवित मनुष्य था, तो वही सबसे पीछे खड़ा हुआ काला नवयुवक! उसका मुख उसी की ओर था। वह उसी से अपने भाषण की दाद माँग रही थी। हीरा परखने की आशा जौहरी से ही की जाती है।

आधा घंटे तक श्रद्धा के मुख से फूलों की वर्षा होती रही। लोगों को बहुत कम ऐसी वक्तृता सुनने को मिली थी।

(४)

श्रद्धा जब सभा समाप्त होने पर घर चली, तो देखा, वही काला नवयुवक उसके पीछे-पीछे तेजी से चला आ रहा है। श्रद्धा को यह मालूम था कि लोगों ने उसका भाषण बहुत पसन्द किया है;

लेकिन इस नवयुवक की राय सुनने का अवसर उसे नहीं मिला था। उसने अपनी चाल धीमी कर दी। दूसरे ही क्षण वह नवयुवक उसके पास पहुँच गया। दोनों कई कदम चुपचाप चलते रहे।

अन्त में नवयुवक ने झिझकते हुए कहा—'आज तो आपने कमाल कर दिया!'

श्रद्धा ने प्रफुल्लता के स्रोत को दबाते हुए कहा—'धन्यवाद! यह आपकी कृपा है।'

नवयुवक ने कहा—'मैं किस लायक हूँ। मैं ही नहीं, सारी सभा सिर धुन रही थी।'

श्रद्धा—'क्या आपका शुभ स्थान यहीं है?'

नवयुवक—'जी हाँ, यहाँ मैं एम्० ए० में पढ़ रहा हूँ। यह ऊँच-नीच का भूत न-जाने कब तक हमारे सिर पर सवार रहेगा। अभाग्य से मैं भी उन लोगों में हूँ, जिन्हें संसार नीच समझता है। मैं जाति का चमार हूँ। मेरे पिता स्कूलों के एक इंसपेक्टर के यहाँ अर्दली थे। उनकी सिफारिश से स्कूल में भरती होगया। तब से भाग्य से लड़ता-भिड़ता चला आ रहा हूँ। पहले तो स्कूल के मास्टर मुझे छूते ही न थे, वह हालत तो अब नहीं रही; किन्तु लड़के अब भी मुझसे खिंचे रहते हैं।'

श्रद्धा—'मैं तो कुलीनता को जन्म से नहीं, कर्म से मानती हूँ।'

नवयुवक—'यह तो आपकी वक्तृता ही से सिद्ध हो गया है। और इसी से आपसे बातें करने का साहस भी हुआ, नहीं तो कहाँ आप, और कहाँ मैं!'

श्रद्धा ने अपनी आँखें नीची करके कहा—'शायद आपको मेरा हाल मालूम नहीं।'

नवयुवक—'बहुत अच्छी तरह मालूम है। यदि आप अपनी माताजी के दर्शन करवा सकें, तो मैं आपका बड़ा आभारी होऊँगा।'

'वह आपसे मिल कर बड़ी प्रसन्न होंगी। शुभनाम?'

'मुझे भगतराम कहते हैं।'

यह परिचय धीरे-धीरे स्थिर और दृढ़ होता गया; मैत्री प्रगाढ़ होती गई। श्रद्धा की नज़रों में भगतराम एक देवता थे, और भगतराम के समक्ष श्रद्धा, मानवी रूप में, देवी थी।

(५)

एक साल बीत गया। भगतराम रोज़ देवी के दर्शनों को जाता। दोनों घंटों बैठे बातें किया करते। श्रद्धा कुछ भाषण करती, तो भगतराम सब काम छोड़कर सुनने जाता। उनके मनसूबे एक थे, जीवन के आदर्श एक, रुचि एक, विचार एक। भगतराम अब प्रेम और उसके रहस्यों की मार्मिक विवेचना करता। उसकी बातों में 'रस' और 'अलंकार' का कभी इतना संयोग न हुआ था। भावों के इंगित करने में उसे कमाल हो गया था। लेकिन ठीक उन अवसरों पर, जब श्रद्धा के हृदय में गुदगुदी होने लगती, उसके कपोल उल्लास से रंजित हो जाते। भगतराम विषय को पलट देता और जल्दी ही, कोई बहाना बनाकर वहाँ से खिसक जाता। उसके चले जाने पर श्रद्धा हसरत के आँसू बहाती और सोचती—क्या इन्हें दिल से मेरा प्रेम नहीं?

एक दिन कोकिला ने भगतराम को एकान्त में बुलाकर कहा—'बेटा! अब तो मुन्नी से तुम्हारा विवाह हो जाय, तो अच्छा। जीवन का क्या भरोसा। कहीं मर जाऊँ, तो यह साध मन ही में रह जाय।'

भगतराम ने सिर हिलाकर कहा—'अम्मा! ज़रा इस परीक्षा में पास हो जाने दो। जीविका का प्रश्न हल हो जाने के बाद ही विवाह शोभा देता है।'

'यह सब तुम्हारा ही तो है, क्या मैं साथ बाँध ले जाऊँगी।'

'यह आपकी कृपा है अम्माजी; पर इतना निर्लज्ज न बनाइए। मैं तो आपका हो चुका, अब तो आप दुतकारें भी, तो इस द्वार से नहीं टल सकता। मुझ-जैसा भाग्यवान् संसार में और कौन है। लेकिन देवी के मंदिर में जाने से पहले कुछ पान-फूल तो पास होना ही चाहिए।'

साल-भर और गुज़र गया। भगतराम ने एम्०ए० की उपाधि ली और अपने ही विद्यालय में अर्थशास्त्र का अध्यापक हो गया। उस दिन कोकिला ने खूब दान-पुण्य किया। जब भगतराम ने आकर उसके पैरों पर सिर झुकाया, तो उसने उसे छाती से लगा लिया। उसे विश्वास था कि आज भगतराम विवाह के प्रश्न को ज़रूर छेड़ेगा। श्रद्धा प्रतीक्षा की मूर्ति बनी हुई थी। उसका एक-एक अंग मानों सौ-सौ तार होकर प्रतिध्वनित हो रहा था, दिल पर एक नशा छाया हुआ था, पाँव ज़मीन पर न पड़ते थे। भगतराम को देखते ही माँ से बोली—'अम्मा, अब हमको एक हलका-सा मोटर ले दीजिएगा।'

कोकिला ने मुस्किराकर कहा—'हल्का-सा क्यों ? भारी-सा ले लेना। पहले कोई अच्छा-सा मकान तो ठीक कर लो।'

श्रद्धा भगतराम को अपने कमरे में बुला ले गई। दोनों बैठकर नए मकान की सजावट के मनसूबे बाँधने लगे। परदे, फर्श, तस्वीरें, सबको व्यवस्था की गई। श्रद्धा ने कहा—'रुपए भी अम्माजी से ले लेंगे।'

भगतराम बोला—'उनसे रुपए लेते मुझे शर्म आएगी।'

श्रद्धा ने मुस्किराकर कहा—'आखिर मेरे दहेज़ के रुपए तो देंगी।'

दोनों घंटे भर बातें करते रहे। मगर वह मार्मिक शब्द, जिसे सुनने के लिये श्रद्धा का मन आतुर हो रहा था, आज भी भगत-राम के मुँह से न निकला और वह बिदा हो गया।

उसके चले जाने पर कोकिला ने डरते-डरते पूछा—'आज क्या बातें हुईं ?'

श्रद्धा ने उसका आशय समझकर कहा—'अगर मैं ऐसी भारी हो रही हूँ, तो कुएँ में क्यों नहीं डाल देतीं।'

यह कहते-कहते उसके धैर्य की दीवार टूट गई। वह आवेश और वह वेदना, जो भीतर-ही-भीतर अब तक टीस रही थी, निकल पड़ी। वह फूट-फूटकर रोने लगी!

कोकिला ने झुँझलाकर कहा—'जब कुछ बातचीत ही नहीं करनी है, तो रोज़ आते ही क्यों हैं? कोई ऐसा बड़ा घराना भी तो नहीं है, और न ऐसे धन्ना-सेठ ही हैं ?'

श्रद्धा ने आँखें पोंछ कर कहा—'अम्माजी मेरे सामने उन्हें कुछ न कहिए। उनके दिल में जो कुछ है, वह मैं जानती हूँ। वह मुँह से चाहे कुछ न कहें; मगर दिल से कह चुके। और मैं चाहे कानों से कुछ न सुनूँ; पर दिल से सब कुछ सुन चुकी।'

कोकिला ने श्रद्धा से कुछ भी न कहा; लेकिन दूसरे दिन भगतराम से बोली—'अब किस सोच-विचार में हो बेटा!'

भगतराम ने सिर खुजलाते हुए कहा—'अम्माजी, मैं तो हाजिर हूँ; लेकिन घरवाले किसी तरह राजी नहीं होते। ज़रा फुरसत मिले, तो घर जाकर उन्हें राजी कर लूँ। माँ-बाप को नाराज़ करना भी तो अच्छा नहीं।'

कोकिला कुछ जवाब न दे सकी।

(६)

भगतराम के माँ-बाप शहर से दूर रहते थे। यही एक उनका लड़का था। उनकी सारी उमगें उसी के विवाह पर अवलंबित थीं। उन्होंने कई बार उसकी शादी तय की। पर भगतराम बार-बार यही कहकर निकल जाता कि जब तक नौकर न हो जाऊँगा, विवाह न करूँगा। अब वह नौकर हो गया था; इसलिये दोनों माघ के एक ठंडे प्रातःकाल में लदे-फँदे भगतराम के मकान पर आ पहुँचे। भगतराम ने दौड़कर उनकी पद-धूलि ली और कुशल आदि पूछने के बाद कहा—'आप लोगों ने इस जाड़े-पाले में क्यों तकलीफ़ की। मुझे बुला लिया होता।'

चौधरी ने अपनी पत्नी की ओर देखकर कहा—'सुनती हो

बचा की अम्मा ! जब बुलाते हैं, तो कहते हैं कि इम्तिहान है, यह है, वह है। जब आ गए, तो कहता है बुलाया क्यों नहीं। तुम्हारा विवाह ठीक हो गया है। अब एक महीने की छुट्टी लेकर हमारे साथ चलना होगा। इसीलिए हम दोनों आए हैं।'

चौधराइन—'हमने कहा कि बिना गए काम नहीं चलेगा। तो आज ही दरखास दे दो। लड़की बड़ी सुन्दर, पढ़ी-लिखी, अच्छे कुल की है।'

भगतराम ने लजाते हुए कहा—'मेरा विवाह तो यहीं एक जगह लगा हुआ है, अगर आप लोग राज़ी हों, तो कर लूँ।'

चौधरी—'इस शहर में हमारी बिरादरी का कौन है, काहे बचा की अम्मा ?'

चौधराइन—'यहाँ हमारी बिरादरी का तो कोई नहीं है।'

भगतराम—'माँ-बेटी हैं। घर में रुपया भी है। लड़की ऐसी है कि तुम लोग देखकर खुश हो जाओगे। मुफ्त में शादी हो जायगी।'

चौधरी—'क्या लड़की का बाप मर गया है ? उसका क्या नाम था ? कहाँ का रहनेवाला है। कुल-मरजाद कैसा है। जब तक यह सारी बातें मालूम न हो जायँ, तब तक ब्याह कैसे हो सकता है।—क्यों बच्चा की अम्मा।'

चौधराइन—'हाँ, बिना इन बातों का पता लगाए कैसे हो सकता है।'

भगतराम ने कोई जवाब नहीं दिया।

चौधरी—'यहाँ किस महल्ले में रहती हैं माँ-बेटी! सारा शहर हमारा छाना पड़ा है, हम यहाँ कोई बीस साल रहे होंगे, क्यों बच्चा की अम्मा ?'

चौधराइन—'बीस साल से ज्यादा ही रहे हैं।'

भगतराम—'उनका घर नख़ास पर है।'

चौधरी—'नख़ास से किस तरफ़।'

भगतराम—'नख़ास की सामनेवाली गली में पहला मकान उन्हीं का है। सड़क से दिखाई देता है।'

चौधरी—'पहला मकान तो कोकिला रंडी का है। गुलाबी रंग से पुता हुआ है न!'

भगतराम ने झेंपते हुए कहा—'जी हाँ वही मकान है!'

चौधरी—'तो उसमें कोकिला रंडी नहीं रहती क्या ?'

भगतराम—'रहती क्यों नहीं, माँ-बेटी, दोनों ही तो रहती हैं।'

चौधरी—'तो क्या कोकिला रंडी की लड़की से ब्याह करना चाहते हो ? नाक कटवाने पर लगे हो क्या ? बिरादरी में तो कोई पानी पिएगा नहीं।'

चौधराइन—'लूका लगा दूँगी मुँह में राँड़ के। रूप-रंग देख के लुभा गए क्या ?'

भगतराम—'मैं तो इसे अपने बड़े भाग्य समझता हूँ कि वह अपनी लड़की की शादी मेरे साथ करने को राज़ी है। अगर वह आज चाहे, तो किसी बड़े-से-बड़े रईस के घर में शादी कर सकती है।'

चौधरी—'रईस उससे ब्याह न करेगा—रख लेगा। तुम्हें भगवान समाई दे, तो एक नहीं चार रक्खो। मरदों के लिये कौन रोक है। लेकिन जो ब्याह के लिये कहो, तो ब्याह वही है, जो बिरादरी में हो।'

चौधराइन—'बहुत पढ़ने से आदमी बौरा जाता है।'

चौधरी—'हम तो गँवार आदमी हैं; पर नहीं समझ में आता तुम्हारी यह नियत कैसे हुई? रंडी की बेटी चाहे इन्दर की परी हो, तो भी रंडी की बेटी है। हम तुम्हारा विवाह वहाँ न होने देंगे। अगर तुमने विवाह किया, तो हम दोनों तुम्हारे ऊपर जान दे देंगे। इतना अच्छी तरह से समझ लेना—क्यों बच्चा की अम्मा!'

चौधराइन—'ब्याह कर लेंगे, जैसे हँसी ठट्ठा है! झाड़ मार के भगा दूँगी राँड़ को। अपनी बेटी अपने घर में रक्खे।'

भगतराम—'अगर आप लोगों की आज्ञा नहीं है, तो मैं विवाह नहीं करूँगा; मगर मैं किसी दूसरी औरत से भी विवाह न करूँगा।'

चौधराइन—'हाँ, तुम कुवाँरे रहो, यह हमें मंजूर है। पतुरिया के घर में ब्याह न करेंगे।'

भगतराम ने अबकी झुँझलाकर कहा—'आप उसे बार-बार पतुरिया क्यों कहती हैं। किसी ज़माने में यह उसका पेशा रहा होगा। आज दिन वह जितने आचार-विचार से रहती है, शायद ही कोई औरत रहती हो। ऐसा पवित्र आचरण तो मैंने आज तक देखा ही नहीं।'

भगतराम का सारा यत्न विफल हो गया। चौधराइन ने ऐसी ज़िद पकड़ीं कि जौ-भर भी अपनी जगह से न टलीं।

रात को जब भगतराम अपने प्रेम-मन्दिर में पहुँचा, तो उसका चेहरा उतरा हुआ था। एक-एक अंग से निराशा टपक रही थी। श्रद्धा रास्ता देखती हुई घबरा रही थी, कि आज इतनी रात तक आये क्यों नहीं। उन्हें क्या मालूम कि मेरे दिल की क्या हालत हो रही है। यार-दोस्तों से छुट्टी मिलेगी, तो भूलकर इधर भी आ जायँगे।

कोकिला ने कहा—'मैं तो तुझसे कह चुकी कि उनका अब वह मिज़ाज नहीं रहा। फिर भी तू नहीं मानती। आख़िर इस टाल-मटोल की कोई हद भी है।'

श्रद्धा ने दुखित होकर कहा—'अम्माजी, मैं आपसे हज़ार बार विनय कर चुकी हूँ कि चाहे लौकिक-रूप में कुमारी ही क्यों न रहूँ; लेकिन हृदय से उनकी ब्याहिता हो चुकी। अगर ऐसा आदमी विश्वास करने के काबिल नहीं है, तो फिर नहीं जानती कि किस पर विश्वास किया जा सकता है।'

इसी समय भगतराम निराशा की मूर्ति बने हुए कमरे के भीतर आये। दोनों स्त्रियों ने उनकी ओर देखा। कोकिला की आँखों में शिकायत थी, और श्रद्धा की आँखों में वेदना! कोकिला की आँखें कह रही थीं, यह क्या तुम्हारे रंग-ढंग हैं? श्रद्धा की आँखें कह रही थीं—इतनी निर्दयता!

भगतराम ने धीमे, वेदना-पूर्ण स्वर में कहा—'आप लोगों को

आज बहुत देर तक मेरी राह देखनी पड़ी ; मगर मैं मजबूर था। घर से अम्मा और दादा आये हुए हैं, उन्हीं से बातें कर रहा था।'

कोकिला बोली—'घर पर तो सब कुशल है न ?'

भगतराम ने सिर झुकाए हुए कहा—'जी हाँ, सब कुशल है। मेरे विवाह का मसला पेश था। पुराने ख़याल के आदमी हैं, किसी तरह भी राज़ी नहीं होते।'

कोकिला का मुख तमतमा उठा, बोली—'हाँ, क्यों राज़ी होंगे। हम लोग उनसे भी नीच हैं न ; लेकिन जब तुम उनकी इच्छा के दास थे, तो तुम्हें उनसे पूछकर यहाँ आना-जाना चाहिए था। इस तरह हमारा अपमान करके तुम्हें क्या मिला। यदि मुझे मालूम होता कि तुम अपने माँ-बाप के इतने गुलाम हो, तो यह नौबत ही काहे को आती।'

श्रद्धा ने देखा कि भगतराम की आँखों से आँसू गिर रहे हैं।

विनीत भाव से बोली—'अम्माजी, माँ-बाप की मर्ज़ी का गुलाम होना कोई पाप नहीं है। अगर मैं आपकी उपेक्षा करूँ, तो क्या आपको दुख न होगा ? यही हाल उन लोगों का भी तो होगा।'

श्रद्धा यह कहती हुई अपने कमरे की ओर चली, और इशारे से भगतराम को भी बुलाया। कमरे में बैठकर दोनों कई मिनट तक पृथ्वी की ओर ताकते रहे। किसी में भी साहस न था कि उस सन्नाटे को तोड़े।

अंत में भगतराम ने पुरुषोचित वीरता से काम लिया और

कहा—'श्रद्धा, इस समय मेरे हृदय के भीतर तुमुल युद्ध हो रहा है। मैं शब्दों में अपनी दशा बयान नहीं कर सकता। जी चाहता है कि विष खाकर जान दे दूँ। तुमसे अलग रहकर जीवित नहीं रह सकता—केवल तड़प सकता हूँ। मैंने न-जाने उनकी कितनी खुशामद की, कितना रोया, कितना गिड़गिड़ाया; लेकिन दोनों अपनी बातों पर अड़े ही रहे। बार-बार यही कहते रहे कि अगर यह ब्याह होगा, तो हम दोनों तुम पर अपनी जान दे देंगे। उन्हें मेरी मौत मंजूर; लेकिन तुम मेरे हृदय की रानी बनो, यह मंजूर नहीं।'

श्रद्धा ने सांत्वना देते हुए कहा—'प्यारे, मुझसे उनका घृणा करना उचित है। पढ़े-लिखे आदमियों में ही ऐसे कितने निकलेंगे। इसमें उनका कोई दोष नहीं। मैं सबेरे उनके दर्शन करने जाऊँगी। शायद मुझे देखकर उनका दिल पिघल जाय। मैं हर तरह से उनकी सेवा करूँगी, उनकी धोतियाँ धोऊँगी, उनके पैर दाबा करूँगी, मैं वह सब करूँगी, जो उनकी मनचाही बहू करती। इसमें लज्जा की कौन बात। उनके तलवे सहलाऊँगी,—भजन गाकर सुनाऊँगी—मुझे बहुत से दिहाती गीत आते हैं। अम्माजी के सिर के सफेद बाल चुनूँगी। मैं दया नहीं चाहती, मैं तो प्रेम की चेरी हूँ। तुम्हारे लिये मैं सब कुछ करूँगी—सब कुछ।'

भगतराम को ऐसा मालूम हुआ, मानो उनकी आँखों की ज्योति बढ़ गई है, अथवा शरीर में कोई दूसरी ज्योतिमय आत्मा आ गई है। उनके हृदय का सारा अनुराग, सारा विश्वास, सारी

भक्ति आँखों से उमड़कर श्रद्धा के पैरों की ओर जाती हुई मालूम हुई, मानो किसी घर से नन्हें-नन्हें लाल कपोलवाले, रेशमी कपड़ोंवाले, घुँघराले बालोंवाले बच्चे हँसते हुए निकल कर खेलने जा रहे हों।

(७)

चौधरी और चौधराइन को शहर आये हुए दो सप्ताह बीत गए। वे रोज़ जाने के लिये कमर कसते; लेकिन फिर रह जाते। श्रद्धा उन्हें जाने न देती। सबेरे जब उनकी आँखें खुलतीं, तो श्रद्धा उनके स्नान के लिये पानी तपाती हुई होती, चौधरी को अपना हुक्का भरा हुआ मिलता। वे लोग ज्योंही नहाकर उठते, श्रद्धा उनकी धोती छाटने लगती। दोनों उसकी सेवा और अविराम परिश्रम देखकर दंग रह जाते। ऐसी सुन्दर, ऐसी सुकुमार, ऐसी मधुर-भाषिणी, ऐसी हँसमुख, और चतुर रमणी, चौधरी ने इंसपेक्टर साहब के घर में भी न देखी थी। चौधरी को वह देवी मालूम होती—और चौधराइन को लक्ष्मी! दोनों श्रद्धा की सेवा, और अटल प्रेम पर आश्चर्य करते थे; किन्तु तो भी कलंक और बिरादरी का प्रश्न उनके मुँह पर मुहर लगाए हुए था। पन्द्रहवें दिन जब श्रद्धा दस बजे रात को अपने घर चली गई, तो चौधरी ने चौधराइन से कहा—'लड़की तो साक्षात् लक्ष्मी है।'

चौधराइन—'जब मेरी धोती छाँटने लगती है, तो मैं मारे लाज के कट जाती हूँ। हमारी तरह तो इसकी लौंडी होंगी।'

चौधरी—'फिर क्या सलाह देती हो—अपनी बिरादरी में तो ऐसी सुघर लड़की मिलने की नहीं।'

चौधराइन—'राम का नाम लेकर ब्याह करो। बहुत होगा रोटी पड़ जायगी। पाँच बीसी में तो रोटी होती है, कौन छप्पन टके लगते हैं। पहले हमें संका होती थी कि पतुरिया की लड़की, न-जाने कैसी हो, कैसी न हो; पर अब सारी संका मिट गई।'

चौधरी—'जब बातें करती है, तो मालूम होता है, मुँह से फूल झड़ते हैं।'

चौधराइन—'मैं तो उसकी माँ को बखानती हूँ, जिसकी कोख से ऐसी लक्ष्मी जनमी।'

चौधरी—'कल चलो कोकिला से मिलकर सब ठीक-ठाक कर आवें।'

चौधराइन—'मुझे तो उसके घर जाते शरम लगती है। वह रानी बनी बैठी होगी, मैं तो उसकी लौंडी मालूम होऊँगी।'

चौधरी—तो फिर पावडर मँगाकर मुँह में पोत लो—गोरी हो जाओगी। इंसपेक्टर साहब की मेम भी तो रोज पावडर लगाती थीं। रंग तो साँवला था; पर जब पावडर लगा लेतीं, तो मुँह चमकने लगता था।

चौधराइन—'हँसी करोगे तो गाली दूँगी हाँ। काली कमली पर कोई रंग चढ़ता है, जो पावडर चढ़ जायगा? तुम तो सचमुच उसके चौकीदार से लगोगे।'

चौधरी—'तो कल मुँह अँधेरे चल दें। अगर कहीं श्रद्धा आ गई, तो फिर गला न छोड़ेगी। बच्चा से कह देंगे कि पण्डित से

सायत-मिती सब ठीक कर लो।' फिर हँसकर कहा—'उन्हें तो आप ही जल्दी होगी।'

चौधराइन भी पुराने दिन याद करके मुस्किराने लगीं।

(८)

चौधरी और चौधराइन का मत पाकर कोकिला विवाह का आयोजन करने लगी। कपड़े बनवाए जाने लगे। बरतनों की दूकानें छानी जाने लगीं और गहनों के लिए सुनार के पास 'आर्डर' जाने लगे; लेकिन न-मालूम क्यों भगतराम के मुख पर प्रसन्नता का चिह्न तक न था। श्रद्धा के यहाँ नित्य की भाँति जाता; किन्तु उदास, कुछ भूला हुआ-सा बैठा रहता। घंटों आत्म-विस्मृति की अवस्था में, शून्य दृष्टि से आकाश अथवा पृथ्वी की ओर देखा करता। श्रद्धा उसे अपने क़ीमती कपड़े और जड़ाऊ गहने दिखलाती। उसके अंग-प्रत्यंग से आशाओं की स्फूर्ति छलकी पड़ती थी। इस नशे में वह भगतराम की आँखों में छिपे हुए आँसुओं को न देख पाती थी।

इधर चौधरी भी तैरियाँ कर रहे थे। बार-बार शहर आते और विवाह के सामान मोल ले जाते। भगतराम से स्वतंत्र विचार-वाले मित्र उसके भाग्य पर ईर्षा करते थे। अप्सरा-जैसी सुन्दर स्त्री, क़ारूँ का ख़ज़ाना-जैसी दौलत, दोनों साथ ही किसे मयस्सर होते हैं? किन्तु वह जो मित्रों की इर्षा कोकिला की प्रसन्नता, श्रद्धा की मनोकामना और चौधरी और चौधराइन के आनन्द का कारण था, छिप-छिप कर रोता था, अपने जीवन से दुःखी था।

चिराग़ तले अन्धेरा छाया हुआ था। इस छिपे हुए तूफ़ान को किसी को भी खबर न थी, जो उसके हृदय से हाहाकार मचा रहा था।

ज्यों-ज्यों विवाह का दिन समीप आता था, भगतराम की बनावटी उमंग भी ठंढी पड़ती जाती थी। जब चार दिन रह गए, तो उसे हलका-सा ज्वर आ गया। वह श्रद्धा के घर भी न जा सका। चौधरी और चौधराइन तथा अन्य बिरादरी के लोग भी आ पहुँचे थे; किन्तु सब-के-सब विवाह की धुन में इतने मस्त थे कि किसी का भी ध्यान उसकी ओर न गया।

दूसरे दिन भी वह घर से न निकल सका। श्रद्धा ने समझा कि विवाह की रीतियों से छुट्टी न मिली होगी। तीसरे दिन चौधराइन भगतराम को बुलाने गईं, तो देखा कि वह सहमी हुई विस्फारित आँखों से कमरे के एक कोने की ओर देखता हुआ दोनों हाथ सामने किये, पीछे हट रहा है, मानों अपने को किसी के वार से बचा रहा हो। चौधराइन ने घबराकर पूछा—'बच्चा कैसा जी है? पीछे इस तरह क्यों चले जा रहे हो? यहाँ तो कोई नहीं है।'

भगतराम के मुख पर पागलों-जैसी अचेतनता थी। आँखों में भय छाया हुआ था। भीत-स्वर में बोला—'नहीं अम्माजी देखो, वह श्रद्धा चली आ रही है! देखो, उसके दोनों हाथों में दो काली नागिनें हैं। वह मुझे उन नागिनों से डसवाना चाहती है! अरे अम्मा! देखो, वह नज़दीक आ गई। श्रद्धा! श्रद्धा!! तुम मेरी

जान की क्यों बैरिन हो गई हो ! क्या मेरे असीम प्रेम का यही परिणाम है ? मैं तो तुम्हारे चरणों पर बलि होने के लिये सदैव तत्पर था। इस जीवन का मूल्य ही क्या है। तुम इन नागिनों को दूर फेंक दो। मैं यहीं तुम्हारे चरणों पर लेटकर यह जान तुम पर न्योछावर कर दूँगा।...... .... हैं, हैं, तुम न मानोगी।

यह कहकर वह चित गिर पड़ा। चौधराइन ने लपककर चौधरी को बुलाया। दोनों ने भगतराम को उठाकर चारपाई पर लिटा दिया। चौधरी का ध्यान किसी आसेब की ओर गया। वह तुरन्त ही लौंग और राख लेकर आसेब उतारने का आयोजन करने लगे। स्वयं यंत्र-मंत्र में निपुण थे। भगतराम का सारा शरीर ठंढा था; किन्तु सिर तवे की तरह तप रहा था।

रात को भगतराम कई बार चौंक-चौंककर उठा। चौधरी ने हर बार मंत्र फूँककर अपने ख़याल से आसेब को भगाया।

चौधाराइन ने कहा—'कोई डॉक्टर क्यों नहीं बुलवाते। सायद दवा से कुछ फायदा हो! कल ब्याह और आज यह हाल।'

चौधरी ने निशंक भाव से कहा—'डॉक्टर आकर क्या करेगा वही पीपलवाले बाबा तो हैं। दवा-दारू करना, उनसे और रार बढ़ाना है। रात जाने दो। सबेरे होते ही, एक बकरा और एक बोतल दारू उनकी भेंट की जायगी। बस, और कुछ जरूरत करने की नहीं। डॉक्टर बीमारी की दवा करता है कि हवा बयार की। बीमारी उन्हें कोई नहीं है, कुल के बाहर ब्याह करने ही से देवता लोग रूठ गये हैं।'

सबेरे चौधरी ने एक बकरा मँगवाया। स्त्रियाँ गाती-बजाती हुई देवी के चौतरे की ओर चलीं। जब लोग लौट कर आए, तो देखा कि भगतराम की हालत खराब है। उसकी नाड़ी धीरे-धीरे बन्द हो रही थी। मुख पर मृत्यु-विभीषिका की छाप थी। उसके दोनों नेत्रों से आँसू बहकर गालों पर ढुलक रहे थे, मानों अपूर्ण इच्छा का अन्तिम संदेश निर्दय संसार को सुना रहे हों। जीवन का कितना वेदना-पूर्ण दृश्य था—आँसुओं की दो बूँदें।

अब चौधरी घबराए। तुरन्त ही कोकिला को खबर दी। एक आदमी डॉक्टर के पास भेजा। डाक्टर के आने में तो देर थी—वह भगतराम के मित्रों में से थे; किन्तु कोकिला और श्रद्धा आदमी के साथ ही आ पहुँचीं। श्रद्धा भगतराम के सामने आकर खड़ी हो गई। आँखों से आँसू बहने लगे।

थोड़ी देर में भगतराम ने आँखें खोलीं और श्रद्धा, की ओर देखकर बोले—'तुम आ गईं श्रद्धा, मैं तुम्हारी ही राह देख रहा था। यह अन्तिम प्यार लो। आज ही सब 'आगा-पीछा' का अन्त हो जायगा, जो आज से तीन वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ था। इन तीन वर्षों में मुझे जो आत्मिक-यन्त्रणा मिली है, हृदय ही जानता है। तुम वफ़ा की देवी हो; लेकिन मुझे रह-रहकर यह भ्रम होता था, क्या तुम खून के असर का नाश कर सकती हो? क्या तुम एक ही बार अपने परम्परा की रीति छोड़ सकोगी? क्या तुम जन्म के प्राकृतिक नियमों को तोड़ सकोगी? इन भ्रम पूर्ण विचारों के लिये श्रद्धा! मुझे माफ़ करना। मेरे लिये शोक न

करना। मैं तुम्हारे योग्य न था—किसी प्रकार भी, और कभी भी तुम्हारा-जैसा महान् हृदय न बन सका। हाँ, इस भ्रम के वश में पड़कर संसार से मैं अपनी इच्छाएँ बिना पूर्ण किए ही जा रहा हूँ। तुम्हारे अगाध, निष्कपट, निर्मल प्रेम की स्मृति सदैव ही मेरे साथ रहेगी। किन्तु हाय अफ़सोस...........।'

कहते-कहते भगतराम की आँखें फिर बन्द हो गईं। श्रद्धा के मुख पर गाढ़ी लालिमा दौड़ गई। उसके आँसू सूख गए। झुकी हुई गरदन तन गई। माथे पर बल पड़ गए। आँखों में आत्म-अभिमान की झलक आ गई। वह क्षण-भर वहाँ खड़ी रही और दूसरी ही क्षण नीचे आकर अपनी गाड़ी में बैठ गई। कोकिला उसके पीछे-पीछे दौड़ी हुई आई, और बोली—'बेटी, यह क्रोध करने का अवसर नहीं है। लोग अपने दिल में क्या कहेंगे। उनकी दशा बराबर बिगड़ती ही जाती है। तुम्हारे रहने से बुड्ढों को ढाढस बँधा रहेगा।'

श्रद्धा ने कुछ उत्तर न दिया। कोचवान से कहा—'घर चलो।'

हारकर कोकिला भी गाड़ी में बैठ गई।

असह्य शीत पड़ रही थी। आकाश में काले बादल छाये हुए थे। शीतल वायु चल रही थी। माघ के अन्तिम दिवस थे। वृक्ष पेड़-पौधे भी शीत से अकड़े हुए थे। दिन के आठ बज गए थे, अभी तक लोग रजाई के भीतर मुँह लपेटे हुए लेटे थे। लेकिन श्रद्धा का शरीर पसीने से भीगा हुआ था। ऐसा मालूम होता था कि सूर्य की सारी उष्णता उसके शरीर की रगों में घुस गई है।

उसके होंठ सूख गये थे, प्यास से नहीं, आंतरिक धधकती हुई अग्नि की लपटों से ! उसका एक-एक अंग उस अग्नि की भीषण आँच से जला जा रहा था। उसके मुख से बार-बार जलती हुई गर्म साँसें निकल रही थीं, मानों किसी चुल्हे की लपट हों। घर पहुँचते-पहुँचते उसका फूल-सा मुख मलीन हो गया, होंठ नीले पड़ गये, जैसे किसी काले ने डस लिया हो। कोकिला बार-बार अश्रु-पूर्ण नेत्रों से उसीकी ओर ताकती थी ; पर क्या कहे और क्या कहकर समझाये।

घर पहुँचकर श्रद्धा अपने ऊपर के कमरे की ओर चली, किन्तु उसमें शक्ति न थी की वह सीढ़ियाँ चढ़ सके। रस्सी को मज़बूती से पकड़ती हुई किसी तरह अपने कमरे में पहुँची। हाय, आध ही घण्टे पूर्व यहाँ की एक-एक वस्तु पर प्रसन्नता, आह्लाद, आशाओं की छाप लगी हुई थी ; पर अब सब-की-सब सिर धुनती हुई मालूम होती थीं। बड़े-बड़े संदूकों में जोड़े सजाये हुए रक्खे थे, उन्हें देखकर श्रद्धा के हृदय में हूक उठी और वह गिर पड़ी, जैसे विहार करता हुआ और कुलाँचें भरता हुआ हिरन तीर लग जाने से गिर पड़ता है।

अचानक उसकी दृष्टि उस चित्र पर जा पड़ी, जो आज तीन वर्ष से उसके जीवन का आधार हो रही थी। उस चित्र को उसने कितनी बार चूमा था, कितनी बार गले लगाया था, कितनी बार हृदय से चिपका लिया था। वे सारी बातें एक-एक करके उसे याद आ रही थीं ; लेकिन उनके याद करने का भी अधिकार उसे न था।

हृदय के भीतर एक दर्द उठा, जो पहले से कहीं अधिक प्राणान्तकारी था—जो पहले से भी अधिक तूफान के समान भयंकर था। हाय! उस मरनेवाले के दिल को उसने कितनी यंत्रणा पहुँचाई! भगतराम के अविश्वास का यह जवाब, यह प्रत्युत्तर कितना रोमांचकारी और हृदयविदारक था। हाय! वह कैसे ऐसी निठुर हो गई। उसका प्यारा उसकी नज़रों के सामने दम तोड़ रहा था। उसके लिये—उसकी सांत्वना के लिये एक शब्द भी मुँह से न निकाला। यही तो खून का असर है—इसके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता था। आज पहली बार श्रद्धा को कोकिला की बेटी होने का पछतावा हुआ। वह इतनी स्वार्थरत, इतनी हृदयहीन है—यह आज ही उसे मालूम हुआ। वह त्याग, वह सेवा, वह उच्चादर्श, जिस पर उसे घमण्ड था, ढहकर श्रद्धा के सामने गिर पड़ा। वह अपनी ही दृष्टि में अपने को हेय समझने लगी। उस स्वर्गीय प्रेम का ऐसा नैराश्यपूर्ण उत्तर वेश्या की पुत्री के अतिरिक्त और कौन दे सकता है।

श्रद्धा उसी समय कमरे से बाहर निकलकर, वायु-वेग से सीढ़ियाँ उतरती हुई नीचे पहुँची, और भगतराम के मकान की ओर दौड़ी। वह आखिरी बार उससे गले मिलना चाहती थी। अंतिम बार उसके दर्शन करना चाहती थी। वह अनंत प्रेम के कठिन बंधनों को निभाएगी, और अंतिम श्वास तक उसी को ही बनकर रहेगी।

रास्ते में कोई सवारी न मिली। श्रद्धा थकी जा रही थी।

सिर से पाँव तक पसीने से नहाई हुई थी। न-मालूम कितनी बार वह ठोकर खाकर गिरी और फिर उठकर दौड़ने लगी। उसके घुटनों से रक्त निकल रहा था, साड़ी कई जगह से फट गई थी; मगर उसे उस वक्त अपने तन-वदन की सुध तक न थी। उसका एक-एक रोवाँ सहस्रकंठ हो-होकर ईश्वर से प्रार्थना कर रहा था, कि उस प्रातःकाल के दीपक की लौ थोड़ी देर और बची रहे। उसके मुँह से एक बार 'श्रद्धा' का शब्द सुनने के लिये उसकी अंतरात्मा कितनी व्याकुल हो रही थी। केवल यही एक शब्द सुनकर फिर उसकी कोई भी इच्छा अपूर्ण न रह जायगी, उसकी सारी आशाएँ सफल हो जायँगी, सारी साध पूर्ण हो जायगी।

श्रद्धा को देखते ही चौधराइन ने दौड़कर उसका हाथ पकड़ लिया और रोती हुई बोली—

'बेटी, तुम कहाँ चली गई थी? दो बार तुम्हारा नाम लेकर पुकार चुके हैं।'

श्रद्धा को ऐसा मालूम हुआ, मानो उसका कलेजा फटा जा रहा है। उसकी आँखें पथरा गईं। उसे ऐसा मालूम होने लगा कि वह अगाध, अथाह समुद्र की भँवर में पड़ गई है। उसने कमरे में जातेही भगतराम के ठंढे पैरों पर सिर रख दिया और उसे आँखों के गरम पानी से धोकर गरम करने का उपाय करने लगी। यही उसकी सारी आशाओं; और कुल अरमानों की समाधि थी।

भगतराम ने आँखें खोलकर कहा—'क्या तुम हो श्रद्धा! मैं जानता था कि तुम आओगी, इसीलिये अभी तक प्राण अवशेष

थे। जरा मेरे हृदय पर अपनी सिर रख दो—हाँ—मुझे अब विश्वास हो गया कि तुमने मुझे क्षमा कर दिया। जी डूब रहा है। तुमसे कुछ माँगना चाहता हूँ; पर किस मुँह से माँगूँ। जब जीते-जी न माँग सका, तो अब क्या है?'

हमारी अंतिम घड़ियाँ किसी अपूर्ण साध को अपने हिय के भीतर छिपाए हुए होती हैं। मृत्यु पहले हमारी सारी ईर्षा, सारा भेद-भाव, सारा द्वेष नाश करती है। जिनकी सूरत से हमें घृणा होती है, उनसे फिर वही पुराना सौहार्द्र, पुरानी मैत्री करने के लिये, उनको गले लगाने के लिये हम उत्सुक हो जाते हैं। जो कुछ कर सकते थे और न कर सके—उसी की एक साध रह जाती है। भगतराम ने उखड़े हुए विषाद-पूर्ण स्वर में अपने प्रेम की पुनरावृत्ति श्रद्धा के सामने की। उस स्वर्गीय निधि को पाकर वह प्रसन्न हो सकता था, उसका उपयोग कर सकता था; किन्तु हाय, आज वह जा रहा है, अपूर्ण साधों का एक स्मृति लिये हुए! हाय रे! अभागिनी साध!

श्रद्धा भगतराम के वक्षस्थल पर झुकी हुई रो रही थी। भगतराम ने सिर उठाकर उसके मुरझाए हुए, आँसुओं से धोए हुए स्वच्छ कपोलों को चूम लिया। मरती हुई साध की वह अंतिम हँसी थी।

भगतराम ने अवरुद्ध कंठ से कहा—'यह हमारा और तुम्हारा विवाह है श्रद्धा—यही मेरी अंतिम भेट है।'—यह कहते हुए उसकी आँखें हमेशा के लिये बंद हो गईं। साध भी मरकर गिर पड़ी।

श्रद्धा की आँखें रोते-रोते लाल हो रही थीं। उसे ऐसा मालूम हुआ, कि मानो भगतराम उसके सामने प्रेमालिंगन का संकेत करते हुए मुस्किरा रहे हैं। वह अपनी दशा, काल, स्थान, सब भूल गई। ज़ख्मी सिपाही अपनी जीत का समाचार पाकर अपना दर्द, अपनी पीड़ा भूल जाता है। क्षण-भर के लिये मौत भी हेय हो जाती है। श्रद्धा का भी यही हाल हुआ। वह भी अपना जीवन उस प्रेम की उस निठुर वेदी पर उत्सर्ग करने के लिये तैयार हो गई, जिस पर, लैला और मजनूँ, शीरीं और फ़रहाद—एक नहीं, हज़ारों ने अपनी बलि चढ़ा दी।

उसने चुम्बन का उत्तर देते हुए कहा—'प्यारे, मैं तुम्हारी हूँ, और सदा तुम्हारी ही रहूँगी।'

प्रेम का उदय

भोंदू पसीने में तर, लकड़ी का एक गट्ठा सिर पर लिये आया और उसे ज़मीन पर पटककर बंटी के सामने खड़ा हो गया, मानो पूछ रहा हो—क्या अभी तेरा मिज़ाज नहीं ठीक हुआ ?

संध्या हो गई थी, फिर भी लू चलती थी और आकाश पर गर्द छाई हुई थी। सारी प्रकृति रक्त-शून्य देह की भाँति शिथिल हो रही थी।

भोंदू प्रातःकाल घर से निकला था। दोपहरी उसने एक पेड़ की छाँह में काटी थी। समझा था—इस तपस्या से देवीजी का मुँह सीधा हो जायगा; लेकिन आकर देखा, तो वह अब भी कोप-भवन में थीं।

भोंदू ने बात-चीत छेड़ने के इरादे से कहा—ला एक लोटा पानी दे दे, बड़ी प्यास लगी है। मर गया सारे दिन। बजार में जाऊँगा, तो तीन आने से बेसी न मिलेंगे। दो-चार साँडे मिल जाते, तो मेहनत सुफल हो जाती।

बंटी ने सिरकी के अन्दर बैठे-बैठे कहा—धरम भी लूटोगे और पैसे भी ! मुँह धो रक्खो।

भोंदू ने भवें सिकोड़ कर कहा—क्या धरम-धरम बकती है! धरम करना हँसी-खेल नहीं है। धरम वह करता है, जिसे भगवान ने माना हो। हम क्या खाकर धरम करेंगे। भर पेट चबेना तो मिलता नहीं, धरम करेंगे!

बंटी ने अपना वार ओछा पड़ते देख कर चोट-पर-चोट की—संसार में कुछ ऐसे धरमात्मा भी हैं, जो अपना पेट चाहे न भर सकें; पर पड़ोसियों को नेवता देते फिरते हैं। नहीं सारे दिन बन-बन लकड़ी न तोड़ते फिरते। ऐसे धरमात्मा लोगों को मेहरिया रखने की क्यों सूझती है, यही मेरी समझ में नहीं आता। धरम की गाड़ी क्या अकेले नहीं खींचते बनती।

भोंदू इस चोट से तिलमिला गया। उसकी जिरहदार नसें तन गईं। माथे पर बल पड़ गये। इस अबला का मुँह वह एक डपट में बन्द कर सकता था; पर डाँट-डपट उसने न सीखी थी। जिसके पराक्रम की सारे कंजड़ों में धूम थी, जो अकेला सौ-पचास जवानों का नशा उतार सकता था, इस अबला के सामने चूँ तक न कर सका। दबी ज़बान से बोला—मेहरिया धरम बेचने के लिये नहीं लाई जाती, धरम पालने के लिये लाई जाती है।

यह कंजड़-दम्पती आज तीन दिन से और कई कंजड़ परिवारों के साथ इस बाग़ में उतरा हुआ था। सारे बाग़ में सिरकियाँ ही सिरकियाँ दिखाई देती थीं। उसी तीन हाथ चौड़ी और चार हाथ लम्बी सिरकी के अन्दर एक-एक पूरा परिवार, जीवन के समस्त व्यापारों के साथ, कल्पवास से कर रहा था। एक किनारे चक्की

पुलीस वालों की खुशामद न कर सकता था। उसकी स्वतंत्र आत्मा अपने बाहुबल से प्राप्त किसी वस्तु में हिस्सा देना स्वीकार न करती थी; इसलिये वह यह नौबत आने ही न देतो थी।

बंटी को पति की यह आचार-निष्ठा एक आँख न भाती थी। उसकी और बहनें नई-नई फड़ियाँ और नए-नए आभूषण पहनतीं, तो बंटी उन्हें देख-देख कर पति की अकर्मण्यता पर कुढ़ती थी। इस विषय पर दोनों में कितने ही संग्राम हो चुके थे; लेकिन भोंदू अपना परलोक बिगाड़ने पर राजी न होता था। आज भी प्रातःकाल यही समस्या आ खड़ी हुई थी और भोंदू लकड़ी काटने जंगलों में निकल गया था। सांडे मिल जाते, तो आँसू पुँछते, पर आज साँडे भी न मिले।

बंटी ने कहा—जिनसे कुछ नहीं हो सकता, वही धरमात्मा बन जाते हैं। राँड़ अपने माँड़ ही में खुश है।

भोंदू ने पूछा—तो मैं निखट्टू हूँ?

बंटी ने इस प्रश्न का सीधा-सीधा उत्तर न देकर कहा—मैं क्या जानूँ तुम क्या हो! मैं तो यही जानती हूँ कि यहाँ धेले-धेले के चीज के लिये तरसना पड़ता है। यहीं सबको पहनते-ओढ़ते, हँसते-खेलते देखती हूँ। क्या मुझे पहनने-ओढ़ने, हँसने-खेलने की साध नहीं है? तुम्हारे पल्ले पड़कर जिंदगानी नष्ट हो गई!

भोंदू ने एक क्षण विचार-मग्न रह कर कहा—जानती है, पकड़ जाऊँगा, तो तीन साल से कम की सजा न होगी।

बंटी विचलित न हुई। बोली—जब और लोग नहीं पकड़ जाते, तो तुम्हीं क्यों पकड़ जाओगे ?

और लोग पुलीस को मिला लेते हैं, थानेदार के पाँव सहलाते हैं, चौकीदारों की खुशामद करते हैं। तू चाहती है, मैं भी औरों की तरह सब की चिरौरी करता फिरूँ ?

बंटी ने अपनी हठ न छोड़ी—मैं तुम्हारे साथ सती होने नहीं आई। फिर तुम्हारे छूरे-गड़ाँसे को कोई कहाँ तक डरे। जानवर को भी जब घास-भूसा नहीं मिलता, तो पगहा तुड़ाकर किसी के खेत में पैठ जाता है। मैं तो आदमी हूँ।

भोंदू ने इसका कुछ जवाब न दिया। उसकी स्त्री कोई दूसरा घर कर ले, यह कल्पना उसके लिये अपमान से भरी हुई थी। आज बंटी ने पहिली बार यह धमकी दी। अब तक भोंदू इस तरफ़ से निश्चिन्त था। अब यह नई सम्भावना उसके सम्मुख उपस्थित हुई। उस दुर्दिन को वह अपना क़ाबू चलते अपने पास न आने देगा।

आज भोंदू की दृष्टि में वह इज्ज़त नहीं रही, वह भरोसा नहीं रहा। मजबूत दीवार को टिकौने की जरूरत नहीं। जब दीवार हिलने लगती है, तब हमें उसको सँभालने की चिन्ता होती है। आज भोंदू को अपनी दीवार हिलती हुई मालूम होती थी।

आज तक बंटी अपनी थी। वह जितना अपनी ओर से निश्चिन्त था, उतना ही उसकी ओर से भी था। वह जिस तरह खुद रहता था, उसी तरह उसको रखता था। जो खुद खाता था,

वही उसको खिलाता था। उसके लिये कोई विशेष फिक्र न थी; पर आज उसे मालूम हुआ कि वह अपनी नहीं है, अब उसका विशेष रूप से सत्कार करना होगा, विशेष रूप से उसकी दिलजोई करनी होगी।

सूर्यास्त हो रहा था। उसने देखा उसका गधा चरकर चुपचाप सिर झुकाये चला आ रहा है। भोंदू ने कभी उसके खाने-पीने की चिन्ता न की थी; क्योंकि गधा कभी किसी और को अपना स्वामी बनाने की धमकी न दे सकता था। भोंदू ने बाहर आकर आज गधे को पुचकारा, उसकी पीठ सहलाई और तुरत उसे पानी पिलाने के लिये डोल और रस्सी लेकर चल दिया।

(२)

इसके दूसरे ही दिन कस्बे में एक धनी ठाकुर के घर चोरी हो गई। उस रात को भोंदू अपने डेरे पर न था। बंटी ने चौकीदार से कहा—वह जंगल से नहीं लौटा। प्रातःकाल भोंदू आ पहुँचा। उसकी कमर में रुपयों की एक थैली थी। कुछ सोने के गहने भी थे। बंटी ने तुरन्त गहनों को ले जाकर एक वृक्ष की जड़ में गाड़ दिया। रुपयों की क्या पहचान हो सकती थी।

भोंदू ने पूछा—अगर कोई पूछे, इतने सारे रुपये कहाँ मिले, तो क्या कहेगी।

बंटी ने आँखें नचाकर कहा—कह दूँगी, क्यों बताऊँ। दुनिया कमाती है, तो किसी को हिसाब देने जाती है? हमीं क्यों अपना हिसाब दें।

भोंदू ने संदिग्ध भाव से गर्दन हिला कर कहा—यह कहने से गला न छूटेगा बंटी ! तू कह देना, मैं तीन-चार मास से दो-दो चार-चार रुपये महीने जमा करती आती हूँ। हमारा खरच ही कौन बड़ा लम्बा है।

दोनों ने मिलकर बहुत से जवाब सोच निकाले—जड़ी-बूटियाँ बेचते हैं। एक-एक जड़ी के लिये मुट्ठी-मुट्ठी भर रुपये मिल जाते हैं। खस, साँड़े जानवरों की खालें, नख और चर्बी, सभी बेचते हैं।

इस ओर से निश्चिंत होकर दोनों बाजार चले। बंटी ने अपने लिये तरह-तरह के कपड़े, चूड़ियाँ, टिकुलियाँ, बुंदे, सेंदूर, पान, तमाखू, तेल और मिठाई ली ! फिर दोनों जने शराब की दूकान गये। खूब शराब पी। फिर दो बोतल शराब रात के लिये लेकर दोनों घूमते-घामते, गाते-बजाते घड़ी रात गये डेरे पर लौटे। बंटी के पाँव आज जमीन पर न पड़ते थे। आते-ही-आते बन-ठन कर पड़ोसियों को अपनी छवि दिखाने लगी।

जब वह लौट कर अपने घर आई और भोजन पकाने लगी, तो पड़ोसियों ने टिप्पणियाँ करनी शुरू कीं—

'कहीं गहरा हाथ मारा है।'

'बड़ा धरमात्मा बना फिरता था।'

'बगला भगत है।'

'बंटी तो आज जैसे हवा में उड़ रही है।'

'आज भोंदुआ की कितनी खातिर हो रही है। नहीं कभी एक लुटिया पानी देने भी न उठती थी।'

रात को भोंदू को देवी की याद आई। आज तक उसने कभी देवी की बेदी पर बकरे का बलिदान न किया था। पुलीस को मिलाने में ज्यादा खर्च था। कुछ आत्म-सम्मान भी खोना पड़ता। देवीजी केवल एक बकरे में राज़ी हो जाती हैं। हाँ, उससे एक ग़लती ज़रूर हुई थी। उसकी बिरादरी के और लोग साधारणतया कार्य-सिद्धि के पहले ही बलिदान दिया करते थे। भोंदू ने यह ख़तरा न लिया। जब तक माल हाथ न आ जाय, उसके भरोसे पर देवी-देवताओं को खिलाना, उसकी व्यवसायिक बुद्धि को न जँचा। औरों से अपने कृत्य को गुप्त रखना भी चाहता था; इसलिए किसी को सूचना भी न दी, यहाँ तक कि बंटी से भी न कहा— बंटी तो भोजन बना रही थी, वह बकरे की तलाश में घर से निकल पड़ा।

बंटी ने पूछा—अब भोजन करने के जून कहाँ चले?

'अभी आता हूँ।'

'मत जाओ, मुझे डर लगता है।'

भोंदू स्नेह के इस नवीन प्रकाश से खिलकर बोला—मुझे देर न लगेगी, तू यह गँड़ासा अपने पास रख ले।

उसने गँड़ासा निकाल कर बंटी के पास रख दिया और निकला। बकरे की समस्या बेढब थी। रात को बकरा कहाँ से लाता। इस समस्या को भी उसने एक नये ढंग से हल किया। पास की बस्ती में एक गड़ेरिये के पास कई बकरे पले थे। उसने सोचा वहीं से एक बकरा उठा लाऊँ। देवीजी को अपने बलिदान

से मतलब है, या इससे कि बकरा कैसे आया और कहाँ से आया।

मगर बस्ती के समीप पहुँचा ही था, कि पुलीस के चार चौकीदारों ने उसे गिरफ्तार कर लिया और मुस्कें बाँध कर थाने ले चले।

(३)

बंटी भोजन पका कर अपना बनाव-सिंगार करने लगी। आज उसे अपना जीवन सफल जान पड़ता था। आनन्द से खिली जाती थी। आज जीवन में पहली बार उसके सिर में सुगन्धित तेल पड़ा। आईना उसके पास एक पुराना अन्धा-सा पड़ा हुआ था। आज वह नया आईना लाई थी। उसके सामने बैठ कर उसने अपने केश सँवारे। मुँह पर उबटन मला। साबुन लाना भूल गई थी। साहब लोग साबुन लगाने ही से तो इतने गोरे हो जाते हैं। साबुन होता, तो उसका रंग कुछ तो निखर ही जाता। एक दिन में वह गोरी तो क्या हो जाती; पर चेहरे का रंग जरूर निखर जाता। कल वह अवश्य साबुन की कई बट्टियाँ लायेगी, और रोज़ लगायेगी। केश गूँथकर उसने माथे पर अलसी का लुआब लगाया, जिसमें बाल न बिखरने पावें। फिर पान लगाये, चूना ज्यादा हो गया था। गलफड़ों में छाले पड़ गये; लेकिन उसने समझा, शायद पान खाने का यही मज़ा है। आखिर कड़वी मिर्च भी तो लोग मजे से खाते हैं। गुलाबी साड़ी पहन और फूलों का गजरा गले में डाल कर उसने आईने में अपनी सूरत देखी, तो उसके आबनूसी रंग पर लाली दौड़ गई। आप-ही-आप लज्जा से उसकी

आँखें झुक गईं। दरिद्रता की आग में नारीत्व भी भस्म हो जाता है, नारीत्व की लज्जा का क्या जिक्र। मैले-कुचैले कपड़े पहन कर लजाना ऐसा ही है, जैसे कोई चबैने में सुगन्ध लगा कर खाना।

इस तरह सजकर बंटो भोंदू की राह देखने लगी। जब अब भी वह न आया, तो उसका जी झुँझलाने लगा। रोज तो साँझ ही से द्वार पर पड़ रहते थे, आज न जाने कहाँ जाकर बैठ रहे। शिकारी अपनी बन्दूक भर लेने के बाद इसके सिवा और क्या चाहता है कि शिकार सामने आए। बंटी के सूखे हृदय में आज पानी पड़ते ही उसका नारीत्व अंकुरित हो गया। झुँझलाहट के साथ उसे चिन्ता भी होने लगी। उसने बाहर निकल कर कई बार पुकारा। उसके कंठ-स्वर में इतना अनुराग कभी न था। उसे कई बार भान हुआ कि भोंदू आ रहा है, वह हर बार सिरकी के अन्दर दौड़ आई और आईने में सूरत देखी कि कुछ बिगड़ न गया हो। ऐसी धड़कन, ऐसी उलझन उसकी अनुभूति से बाहर थी।

बंटी सारी रात भोंदू के इंतजार में उद्विग्न रही। ज्यों-ज्यों रात भीगती थी, उसकी शंका तीव्र होती जाती थी। आज ही उसके वास्तविक जीवन का आरम्भ हुआ था और आज ही यह हाल!

प्रातःकाल वह उठी, तो अभी कुछ अँधेरा ही था। इस रतजगे से उसका चित्त खिन्न और सारी देह अलसाई हुई थी। रह-रहकर भीतर से एक लहर भी उठती थी, आँखें भर-भर आती थीं।

सहसा किसी ने कहा—अरे बंटी, भोंदू रात पकड़ गया।

(४)

बंटी थाने पहुँची तो पसीने में तर थी और दम फूल रहा था। उसे भोंदू पर दया न थी, क्रोध आ रहा था। सारा ज़माना यही काम करता है और चैन की बंसी बजाता है। इन्होंने कहते-कहते हाथ भी लगाया, तो चूक गये! नहीं सहूर था, तो साफ़ कह देते, मुझसे यह काम न होगा। मैं यह थोड़े ही कहती थी, कि आग में फाँद पड़ो।

उसे देखते ही थानेदार ने धौंस जमाई—यही तो है भोंदुआ की औरत। इसे भी पकड़ लो।

बंटी ने हेकड़ी जताई—हाँ-हाँ पकड़ लो। यहाँ किसी से नहीं डरते। जब कोई काम ही नहीं करते, तो डरें क्यों।

अफ़सर और मातहत सभी की अनुरक्त आँखें बंटी की ओर उठने लगीं। भोंदू की तरफ़ से लोगों के दिल कुछ नर्म हो गये। उसे धूप से छाँह में बैठा दिया गया। उसके दोनों हाथ पीछे बँधे हुए थे और धूल धूसरित काली देह पर भी जूतों और कोड़ों के रक्तमय साट साफ़ नज़र आ रहे थे। उसने एक बार बंटी की ओर देखा, मानो कह रहा था—देखना कहीं इन लोगों के धोखे में न आ जाना।

थानेदार ने डाँट बताई—ज़रा इसकी दीदा-दिलेरी देखो, जैसे देवी ही तो है; मगर इस फेर में न रहना। यहाँ तुम लोगों की नस-नस पहचानता हूँ। इतने कोड़े लगवाऊँगा कि चमड़ी उड़ जायगी। नहीं सीधे से क़बूल दो। सारा माल लौटा दो। इसी में

खैरियत है। भोंदू ने बैठे-बैठे कहा—क्या कबूल दें। जो देश को लूटते हैं, उनसे तो कोई नहीं बोलता, जो बिचारे अपनी गाढ़ी कमाई की रोटी खाते हैं, उनका गला काटने को पुलीस भी तैयार रहती है। हमारे पास किसी को नज़र-भेंट देने के लिये पैसे नहीं हैं।

थानेदार ने कठोर स्वर में कहा—हाँ-हाँ, जो कुछ कोर-कसर रह गई हो, वह पूरी कर दे। किरकिरी न होने पाये। मगर इन बैठक बाजियों से बच नहीं सकते। अगर एक़बाल न किया, तो तीन साल को जाओगे। मेरा क्या बिगड़ता है। अरे छोटेसिंह, जरा लाल मिर्च की धूनी तो दो इसे। कोठरी बन्द करके पंसेरी भर मिरचे सुलगा दो। अभी माल बरामद हुआ जाता है।

भोंदू ने उसी ढिठाई से कहा—दारोगाजी, बोटी-बोटी काट डालो; लेकिन कुछ हाथ न लगेगा। तुमने मुझे रात भर पिटवाया है, मेरी एक-एक हड्डी चूर-चूर हो गई है। कोई दूसरा होता, तो अब तक सिधार गया होता। क्या तुम समझते हो, आदमी को रुपये-पैसे जान से भी प्यारे होते हैं! जान ही के लिये तो आदमी सब तरह के कुकरम करता है। धूनी सुलगा कर भी देख लो।

दारोगाजी को अब विश्वास आया कि इस फौलाद को झुकाना मुश्किल है। भोंदू की मुखाकृति से शहीदों का-सा आत्म-समर्पण झलक रहा था। यद्यपि उनके हुक्म की तामील होने लगी, दो कांसटेबलों ने भोंदू को एक कोठरी में बन्द कर दिया। दो आदमी मिर्चें लाने दौड़े; लेकिन दारोगा की युद्ध-नीति बदल गई

थी। बंटी का हृदय क्षोभ से फटा जाता था। वह जानती थी। चोरी करके एक़बाल कर लेना कंजड़ जाति की नीति में महान् लज्जा की बात है; लेकिन क्या यह सचमुच मिर्च की धूनी सुलगा देंगे! इतना कठोर है इनका हृदय! सालन बघारने में कभी मिर्च जल जाती है, तो छींकों और खाँसियों के मारे दम निकलने लगता है। जब नाक के पास धूनी सुलगाई जायगी, तब तो प्राण ही निकल जायँगे। उसने जान पर खेल कर कहा—दारोगाजी तुम समझते होगे कि इन गरीबों की पीठ पर कोई नहीं है; लेकिन मैं कहे देती हूँ, हाकिम से रत्ती-रत्ती हाल कह दूँगी। भला चाहते हो, तो उसे छोड़ दो, नहीं इसका फल बुरा होगा।

थानेदार ने मुस्किरा कर कहा—तुझे क्या, वह मर जायगा, किसी और के नीचे बैठ जाना। जो कुछ जमा-जथा लाया होगा, वह तो तेरे ही हाथ में होगी। क्यों नहीं एक़बाल करके उसे छुड़ा लेती। मैं वादा करता हूँ, मुकदमा न चलाऊँगा। सब माल लौटा दे। तूने ही उसे मंत्र दिया होगा। गुलाबी साड़ी और पान और खुशबूदार तेल के लिये तू ही ललच रही होगी। उसकी इतनी साँसत हो रही है और तू खड़ी देख रही है!

शायद बंटी की आन्तरात्मा को यह विश्वास न था कि यह लोग इतने अमानुषीय अत्याचार कर सकते हैं; लेकिन जब सचमुच धूनी सुलगा दी गई, मिर्च की तीखी जहरीली झार फैली और भोंदू के खाँसने की आवाजें कानों में आईं, तो उसकी आत्मा कातर हो उठी। उसका वह दुस्साहस झूठे रंग की भांति उड़

गया। उसने दारोगाजी के पाँव पकड़ लिए और दीन-भाव से बोली—मालिक, मुझ पर दया करो। मैं सब कुछ दे दूँगी।

धूनी उसी वक्त हटा ली गई।

(५)

भोंदू ने सशंक होकर पूछा—धूनी क्यों हटाते हो!

एक चौकीदार ने कहा—तेरी औरत ने एक़बाल कर लिया।

भोंदू की नाक, आँख, मुँह से पानी जारी था। सिर चक्कर खा रहा था। गले की आवाज़ बन्द-सी हो गई थी; पर यह वाक्य सुनते ही वह सचेत हो गया। उसकी दोनों मुट्ठियाँ बँध गईं। बोला—क्या कहा?

'कहा क्या, चोरी खुल गई। दारोगाजी माल बरामद करने गये हुए हैं। पहले ही एक़बाल कर लिया होता, तो क्यों इतनी साँसत होती।'

भोंदू ने गरज कर कहा—वह झूठ बोलती है।

'वहाँ माल बरामद हो गया, तुम अभी अपनी ही गा रहे हो।'

परम्परा की मर्यादा का अपने हाथों भंग होने की लज्जा से भोंदू का मस्तक झुक गया। इस घोर अपमान के बाद अब उसे अपना जीवन दया और घृणा और तिरस्कार इन सभी दशाओं से निखिद जान पड़ता था। वह अपने समाज में पतित हो गया था।

सहसा बंटी आकर खड़ी हो गई और कुछ कहना ही चाहती थी कि भोंदू की रौद्र मुद्रा देखकर उसकी ज़बान बन्द हो गई। उसे देखते ही भोंदू की आहत मर्यादा किसी आहत सर्प की

भाँति तड़प उठी। उसने बंटी को अंगारों-सी तपती हुई लाल आँखों से देखा। उन आँखों में हिंसा की आग जल रही थी। बंटी सिर से पाँव तक काँप उठी। वह उलटे पाँव वहाँ से भागी। किसी देवता के अग्निबाण के समान वह दोनों अंगारों की-सी आँखें उसके हृदय में चुभने लगीं।

थाने से निकलकर बंटी ने सोचा, अब कहाँ जाऊँ, भोंदू उसके साथ होता, तो वह पड़ोसियों के तिरस्कार को सह लेती। इस दशा में उसके लिये अपने घर जाना असम्भव था। वह दोनों अंगारे की-सी आँखें उसके हृदय में चुभी जाती थीं; लेकिन कल की सौभाग्य विभूतियों का मोह उसे डेरे की ओर खींचने लगा। शराब की बोतल अब भी भरी धरी थी। फुलौड़ियाँ छींके पर हाँड़ी में धरी थीं। वह तीव्र लालसा, जो मृत्यु को सम्मुख देख कर भी संसार के भोग्य पदार्थों की ओर मन को चलायमान कर देती है, उसे खींच कर डेरे को ओर ले चली।

दोपहर हो गया था। वह पड़ाव पर पहुँची, तो सन्नाटा छाया हुआ था। अभी कुछ देर पहले जो स्थान जीवन का क्रीड़ा-क्षेत्र बना हुआ था, बिलकुल निर्जन हो गया था। यह बिरादरी वालों के तिरस्कार का सबसे भयंकर रूप था। सभों ने उसे त्याज्य समझ लिया। केवल उसकी सिरकी उस निर्जनता में रोती हुई खड़ी थी। बंटी ने उसके अन्दर पाँव रखे, तो उसके मन की कुछ वही दशा हुई, जो अकेला घर देखकर किसी चोर की होती है। कौन-कौन-सी चीज़ समेटे। उस कुटी में उसने रो-रोकर पाँच वर्ष काटे थे;

पर आज उसे उससे वही ममता हो रही थी, जो किसी माता को अपने दुर्गुणी पुत्र को देख कर होती है, जो बरसों के बाद परदेस से लौटा हो। हवा से कुछ चीजें इधर की उधर हो गई थीं। उसने तुरन्त उन्हें सँभाल कर रक्खा। फुलौड़ियों की हाँड़ी छींके पर कुछ ठंढी हो गई थी। शायद उस पर कोई बिल्ली झपटी थी। उसने जल्दी से हाँडी उतार कर देखी। फुलौड़ियाँ अछूती थीं। पावों पर जो गीला कपड़ा लपेटा था, वह सूख गया था। उसने तुरन्त कपड़ा तर कर दिया।

किसी पाँव की आहट पाकर उसका कलेजा धक् से हो गया। भोंदू आ रहा है! उसकी वह दोनों अंगारे-सी आँखें! उसके रोयें खड़े हो गये। भोंदू के क्रोध का उसे दो-एक बार अनुभव हो चुका था; लेकिन उसने दिल को मजबूत किया। क्यों मारेगा? कुछ कहेगा, कुछ पूछेगा, कुछ सवाल-जवाब करेगा कि यों ही गँड़ासा चला देगा। उसने उसके साथ कोई बुराई नहीं की। आफत से उसकी जान बचाई। मरजाद जान से प्यारी नहीं होती। भोंदू को होगी, उसे नहीं है। क्या इतनी-सी बात के लिये वह उसकी जान ले लेगा?

उसने सिरकी के द्वार से झाँका। भोंदू न था, केवल उसका गधा चला आ रहा था।

बंटी आज उस अभागे गधे को देख कर ऐसी प्रसन्न हुई, मानो अपना भाई नैहर से बतासों की पोटली लिये थका-माँदा चला आता हो। उसने जाकर उसकी गर्दन सहलाई और उसके थूथन

को अपने मुँह से लगा लिया। वह उसे फूटी आँखों न भाता था; पर आज उससे उसे कितनी आत्मीयता हो गई थी! वह दोनों अँगारे-सी आँखें उसे घूर रही थीं। वह सिहर उठी।

उसने फिर सोचा—क्या किसी तरह न छोड़ेगा? वह रोती हुई उसके पैरों पर गिर पड़ेगी। क्या तब भी न छोड़ेगा। इन आँखों की वह कितनी सराहना किया करता था। इनमें आँसू बहते देख कर भी उसे दया न आवेगी।

बंटी ने कुल्हड़ में शराब उँडेल कर पी ली और छींके से फुलौड़ियाँ उतार कर खाई। जब उसे मरनाही है, तो साध क्यों रह जाय। वह दोनों अंगारों-सी आँखें उसके सामने चमक रही थीं। उसने दूसरा कुल्हड़ भरा और पी गई। जहरीला ठर्रा जिसे दोपहर की गर्मी ने और भी घातक बना दिया था, देखते-देखते उसके मस्तिष्क को खौलाने लगा। बोतल आधी हो गई थी।

उसने सोचा—भोंदू कहेगा, तू ने इतनी दारू क्यों पी, तो वह क्या कहेगी। कह देगी—हाँ, पी; क्यों न पिये, इसी के लिये तो यह सब कुछ हुआ। वह एक बूँद भी न छोड़ेगी। जो होना हो, हो। भोंदू उसे मार नहीं सकता। इतना निर्दयी नहीं है, इतना कायर नहीं है। उसने फिर कुल्हड़ भरा और पी गई। पाँच वर्ष के वैवाहिक जीवन की अतीत स्मृतियाँ उसकी आँखों के सामने खिंच गईं। सैकड़ों ही बार दोनों में गृह-युद्ध हुए थे। आज बंटी को हर बार अपनी ही ज्यादती मालूम हो रही थी। विचारा जो कुछ कमाता है, उसी के हाथों पर रख देता है। अपने लिए कभी एक

सती

मुलिया को देखते हुए उसका पति कल्लू कुछ भी नहीं है। फिर क्या कारण है कि मुलिया सन्तुष्ट और प्रसन्न है और कल्लू चिन्तित और सशङ्कित ?

मुलिया को कौड़ी मिली है, उसे दूसरा कौन पूछेगा ? कल्लू को रत्न मिला है, उसके सैकड़ों ग्राहक हो सकते हैं। खास कर उसे अपने चचेरे भाई राजा से बहुत खटका रहता है। राजा रूपवान है, रसिक है, बातचीत में कुशल है, स्त्रियों को रिझाना जानता है। इससे कल्लू मुलिया को बाहर नहीं निकलने देता। उसपर किसी की निगाह भी पड़ जाय, यह उसे असह्य है। वह अब रात-दिन मेहनत करता है, जिससे मुलिया को किसी बात का कष्ट न हो। उसे न-जाने किस पूर्व जन्म के संस्कार से ऐसी स्त्री मिल गई है। उसपर प्राणों को न्योछावर कर देना चाहता है। मुलिया का कभी सिर भी दुखता है, तो उसकी जान निकल जाती है। मुलिया का भी यह हाल है कि जब तक वह घर नहीं आता, मछली की भाँति तड़पती रहती है। गाँव में कितने ही युवक हैं, जो मुलिया से छेड़छाड़ करते रहते हैं; पर उस युवती की दृष्टि में कुरूप कलुआ संसार भर के आदमियों से अच्छा है।

एक दिन राजा ने कहा—भाभी, भैया तुम्हारे जोग न थे।

मुलिया बोली—भाग में तो वह लिखे थे; तुम कैसे मिलते?

राजा ने मन में समझा, बस अब मार लिया है। बोला—विधि ने यही तो भूल की।

मुलिया मुसकिराकर बोली—अपनी भूल तो वही सुधारेगा। राजा निहाल हो गया।

(२)

तीजे के दिन कल्लू मुलिया के लिए लट्ठे की साड़ी लाया। चाहता तो था कोई अच्छी साड़ी ले; पर रुपये न थे और बजाज ने उधार न माना।

राजा भी उसी दिन अपने भाग्य की परीक्षा करना चाहता था। एक सुन्दर चुन्दरी लाकर मुलिया की भेंट की।

मुलिया ने कहा—मेरे लिये तो साड़ी आ गई है।

राजा बोला—मैंने देखी है। तभी तो मैं इसे लाया। तुम्हारे लायक नहीं है। भैया को किफायत भी सूझती है, तो ऐसी बातों में।

मुलिया कटाक्ष करके बोली—तुम समझा क्यों नहीं देते।

राजा पर एक कुल्हड़ का नशा चढ़ गया। बोला—बूढ़ा तोता नहीं पढ़ता है।

मुलिया—मुझे तो लट्ठे की साड़ी ही पसन्द है।

राजा—जरा यह चुन्दरी पहनकर देखो, कैसी खिलती है।

मुलिया—जो लट्ठा पहनाकर खुश होता है, वह चुन्दरी पहन लेने

से खुश न होगा। उसे चुन्दरी पसन्द होती, तो चुन्दरी ही लाता।

राजा—उन्हें दिखाने का काम नहीं है।

मुलिया विस्मय से बोली—मैं क्या उनसे बिना पूछे ले लूँगी।

राजा—इसमें पूछने की कौन-सी बात है। जब वह काम पर चला जाय पहन लेना। मैं भी देख लूँगा।

मुलिया ठट्ठा मारकर हँसती हुई बोली—यह न होगा देवर-जी। कहीं देख लें, तो मेरी सामत ही आ जाय। इसे तुम लिये जाओ।

राजा ने आग्रह करके कहा—इसे न लोगी भाभी, तो मैं जहर खाके सो रहूँगा।

मुलिया ने साड़ी उठाकर आले पर रख दी और बोली—अच्छा लो, अब तो खुश हुए।

राजा ने उँगली पकड़ी—अभी तो भैया नहीं हैं, जरा पहन लो।

मुलिया ने अन्दर जाकर चुन्दरी पहन ली और फूल की तरह महकती, दमकती बाहर आई।

राजा ने पहुँचा पकड़ने को हाथ फैलाया। बोला—ऐसा जी चाहता है कि तुम्हें लेकर भाग जाऊँ।

मुलिया उसी विनोद भाव से बोली—जानते हो, तुम्हारे भैया का क्या हाल होगा ?

यह कहते हुए उसने किवाड़ बन्द कर लिये। राजा को ऐसा मालूम हुआ, थाली परोसकर उसके सामने से उठा ली गई।

(३)

मुलिया का मन बार-बार करता था कि चुन्दरी कल्लू को

दिखा दे ; पर नतीजा सोचकर रह जाती थी। उसने चुन्दरी रख क्यों ली ? उसे अपने ऊपर क्रोध आ रहा था ; लेकिन राजा को कितना दुःख होता। क्या हुआ उसकी चुन्दरी छन भर पहन लेने से। उसका मन तो रह गया।

लेकिन उसके प्रशान्त मानस-सागर में यह एक कीट आकर उसे मथ रहा था। उसने क्यों चुन्दरी रख ली ? क्या यह कल्लू के साथ विश्वासघात नहीं है ? उसका चित्त इस विचार से विकल हो गया। उसने मन को समझाया, विश्वसघात क्यों हुआ ? इसमें विश्वासघात की क्या बात है। कौन वह राजा से कुछ बोली ? जरा-सा हँस देने से अगर किसी का दिल ख़ुश हो जाता है, तो इसमें क्या बुराई है।

कल्लू ने पूछा—आज रज्जू क्या करने आया था ?

मुलिया की देह थर-थर काँपने लगी। बहाना कर गई—तमाखू माँगने आये थे।

कल्लू ने भवें सिकोड़कर कहा—उसे अन्दर मत आने दिया करो। अच्छा आदमी नहीं है।

मुलिया—मैंने कह दिया तमाखू नहीं है, तो चले गए।

कल्लू ने अबकी तेजस्विता के साथ कहा—क्यों झूठ बोलती है ? वह तामाखू माँगने नहीं आया था।

मुलिया—तो और यहाँ क्या करने आते !

राजा—चाहे जिस काम से आया हो, तमाखू माँगने नहीं आया। वह जानता था, मेरे घर में तमाखू नहीं है। मैं तमाखू के लिये उसके घर गया था।

मुलिया की देह में काटो तो लहू नहीं। चेहरे का रंग उड़ गया।

सिर झुकाकर बोली—मैं किसी के मन का हाल क्या जानूँ।

आज तीजे का रत जगा था। मुलिया पूजा का सामान कर रही थी; पर इस तरह जैसे मन में जरा भी उत्साह, जरा भी श्रद्धा नहीं है।

उसे ऐसा मालूम हो रहा है, उसके मुख में कालिमा पुत गई है और अब वह कल्लू की आँखों से गिर गई है। उसे अपना जीवन निराधार-सा जान पड़ता था।

सोचने लगी, भगवान ने मुझे यह रूप क्यों दिया? यह रूप न होता, तो राजा क्यों मेरे पीछे पड़ता और क्यों आज मेरी यह गत होती? मैं काली कुरूप रहकर इससे कहीं सुखी रहती। तब तो मन इतना चंचल न होता। जिन्हें रूप की कमाई खानी हो, वह रूप पर फूलें, यहाँ तो इसने मटिया मेंट कर दिया।

न-जाने कब उसे झपकी आ गई, तो देखती है कल्लू मर गया है और राजा घर में घुसकर उसे पकड़ना चाहता है। उसी दम एक वृद्धा स्त्री न-जाने किधर से आकर उसे अपनी गोद में लेती है। और कहती है—तूने कल्लू को क्यों मार डाला। मुलिया रोकर कहती है—माता, मैंने उन्हें नहीं मारा। वृद्धा कहती है—हाँ, तूने छुरी कटार से नहीं मारा, उस दिन तेरा तप छीन हो गया और इसी से वह मर गया।

मुलिया ने चौकन्नी आँखें खोल दीं। सामने आँगन में कल्लू

सोया हुआ था। वह दौड़ी हुई उसके पास गई और उसकी छाती पर सिर रखकर फूट-फूटकर रोने लगी।

कल्लू ने घबड़ा कर पूँछा—कौन है? मुलिया! क्यों रोती हो? क्या डर लग रहा है। मैं तो जाग ही रहा हूँ।

मुलिया ने सिसकते हुए कहा—मुझसे आज एक अपराध हुआ है। उसे क्षमा कर दो।

कल्लू उठ बैठा—क्या बात है? कहो तो! रोती क्यों हो?

मुलिया—राजा तम्बाखू माँगने नहीं आया था। मैंने तुमसे झूठ कहा था।

कल्लू हँसकर बोला—वह तो मैं पहले ही समझ गया था।

मुलिया—वह मेरे लिये चुन्दरी लाये थे। 'तुमने लौटा दिया?'

मुलिया काँपती हुई बोली—मैंने ले ली। कहते थे मैं जहर-माहूर खा लूँगा।

कल्लू निर्जीव की भाँति खाट पर गिर पड़ा और बोला तो रूप मेरे बस का नहीं है। दैव ने कुरूप बना दिया, तो सुन्दर कैसे बन जाऊँ।

कल्लू ने अगर मुलिया को खौलते हुए तैल में डाल दिय होता, तो भी उसे इतनी पीड़ा न होती।

(४)

कल्लू उस दिन से कुछ खोया-खोया-सा रहने लगा। जीवन में न वह उत्साह रहा, न वह आनन्द। हँसना-बोलना भूल सा गया। मुलिया ने उसके साथ जितना विश्वासघात किया था, उससे

कहीं ज्यादा उसने समझ लिया। और यह भ्रम उसके हृदय में फेफड़े के समान चिपट गया। वह घर अब उसके लिये केवल लेटने-बैठने का स्थान था और मुलिया केवल भोजन बना देने वाली मशीन। आनन्द के लिये वह कभी-कभी ताड़ी खाने चला जाता या चरस के दम लगाता।

मुलिया उसकी दशा देख-देख अन्दर-ही-अन्दर कुढ़ती थी। वह उस बात को उसके दिल से निकाल देना चाहती कि उसकी सेवा और मन लगाकर करती। उसे प्रसन्न करने के लिये बार-बार प्रयत्न करती ; पर वह जितना ही उसे खींचने की चेष्टा करती थी। उतना ही वह उससे बिचलता था, जैसे कोई कटिये में फँसी हुई मछली हो। कुशल यह थी कि राजा जिस अँग्रेज के यहाँ खाँनसामाँ था, उसका तबादला हो गया और राजा उसके साथ चला गया था, नहीं दोनों भाइयों में किसी-न-किसी का जरूर खून हो जाता। इस तरह साल भर बीत गया।

एक दिन कल्लू रात को घर लौटा, तो उसे ज्वर था। दूसरे दिन उसकी देह में दाने निकल आए। मुलिया ने समझा माता हैं। मान-मनौती करने लगी ; मगर चार-पाँच दिन में ही दाने बढ़कर आबले पड़ गये और मालूम हुआ यह माता नहीं हैं, उपदन्श है। कल्लू की कलुषित भोग-लालसा का यह फल था।

रोग इतनी भयङ्करता से बढ़ने लगा कि आबलों में मवाद पड़ गया और उनमें से ऐसी दुर्गन्ध उड़ने लगी कि पास बैठते नाक फटती थी। देहात में जिस प्रकार का उपचार हो सकता था, वह

मुलिया करती थी ; पर कोई लाभ न होता था और कल्लू की दशा दिन-दिन बिगड़ती जाती थी। उपचार की कसर वह अबला अपनी स्नेह मय सेवा से पूरी करती थी। उसपर गृहस्ती चलाने के लिये अब मेहनत-मजूरी भी करनी पड़ती थी। कल्लू तो अपने किये का फल भोग रहा था। मुलिया अपने कर्तव्य का पालन करने में मरी जा रही थी। अगर कुछ सन्तोष था, तो यह कल्लू का भ्रम उसकी इस तपस्या से भंग होता जाता था। उसे अब विश्वास होने लगा था कि मुलिया अब भी उसी की है। वह अगर किसी तरह अच्छा हो जाता, तो फिर उसे दिल में छिपाकर रखता और उसकी पूजा करता।

प्रातः काल था। मुलिया ने कल्लू का हाथ-मुँह धुलाकर दवा पिलाई और खड़ी पंखा डुला रही थी कि कल्लू ने आँसू भरी आँखों से देखकर कहा—मुलिया, मैंने उस जन्म में कोई भारी तप किया था कि तुम मुझे मिल गई। तुम्हारी जगह अगर मुझे दुनिया का राज भी मिले तो न लूँ।

मुलिया ने दोनों हाथों से उसका मुँह बन्द कर दिया और बोली इस तरह की बातें करोगे, तो मैं रोने लगूँगी। मेरे धन्य भाग कि तुम-जैसा स्वामी मिला।

यह कहते हुए उसने दोनों हाथ पति के गले में डाल दिए और लिपट गई। फिर बोली भगवान ने मुझे मेरे पापों का दण्ड दिया है।

कल्लू ने उत्सुकता से पूँछा—सच कह दो मूला, राजा में और तुममें क्या मामला था।

मुलिया ने विस्मित होकर कहा—मेरे और उसके बीच कोई और मामला हुआ हो, तो भगवान मेरी दुर्गत करें। उसने मुझे चुन्दरी दी थी। वह मैंने ले ली थी। फिर मैंने उसे आग में जला दिया। तब से मैं उससे नहीं बोली।

कल्लू ने ठंडी साँस खींचकर कहा मैंने कुछ और ही समझ रक्खा था। न-जाने मेरी मति कहाँ हर गई थी। तुम्हें पाप लगाकर मैं आप पाप में फँस गया और उसका फल भोग रहा हूँ।

उसने रो-रोकर अपने दुष्कृत्यों का परदा खोलना शुरू किया। और मुलिया आँसू की लड़ियाँ बहाकर सुनने लगी। अगर पति की चिन्ता न होती, तो उसने विष खा लिया होता।

कई महिने के बाद राजा छुट्टी लेकर घर आया और कल्लू की घातक बीमारी का हाल सुना, तो दिल में खुश हुआ, बीमारदारी के बहाने से कल्लू के घर आने-जाने लगा। कल्लू उसे देखकर मुह फेर लेता; लेकिन वह दिन में दो-चार बार पहुँच ही जाता।

एक दिन मुलिया खाना पका रही थी कि राजा ने रसोई के द्वार पर आकर कहा—भाभी, क्या अब मुझपर दया न करोगी। कितनी बेरहम हो तुम। कै दिन से तुम्हें खोज रहा हूँ; पर तुम मुझसे भागती फिरती हो। भैया अब अच्छे न होंगे। इन्हें गर्मी हो गई है। इनके साथ क्यों अपनी जिन्दगानी खराब कर रही हो। तुम्हारी फूल-सी देह सूख गई है। मेरे साथ चलो, कुछ जिन्दगी की बहार उड़ायें। यह जवानी बहुत दिन न रहेगी। यह देखो तुम्हारे लिये एक करनफूल लाया हूँ, जरा पहनकर मुझे दिखा दो।

उसने करनफूल मुलिया की ओर बढ़ा दिया। मुलिया ने उसकी ओर देखा भी नहीं। चूल्हे की ओर ताकती हुई बोली—लाला, तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, मुझे मत छेड़ो। यह सारी विपत्ति तुम्हारी लाई हुई है। तुम्हीं मेरे शत्रु हो। फिर भी तुम्हें लाज नहीं आती। कहते हो भैया अब किस काम के हैं ? मुझे तो अब वह पहले से कहीं ज्यादा अच्छे लगते हैं। तब मैं न होती, तो वह दूसरी सगाई कर लाते, अपने हाथों ठोंक खाते। आज मैं ही उनका आधार हूँ। वह मेरे सहारे जीते हैं। अगर मैं इस संकट में उनके साथ दगा करूँ, तो मुझसे बढ़कर अधम और कौन होगा। और जब मैं जानती हूँ कि इस संकट का कारण भी मैं ही हूँ।

राजा ने हँसकर कहा—यह तो वही हुआ, जैसे किसी की दाल गिर गई, तो उसने कहा—मुझे तो सूखी ही अच्छी लगती है।

मुलिया ने सिर उठाकर उसकी ओर सजोत नेत्रों से ताकते हुए कहा—तुम उनके पैरों की धूल के बराबर नहीं हो लाला, क्या कहते हो तुम ? उजले कपड़े और चिकने मुखड़े से कोई आदमी सुन्दर नहीं होता। मेरी आँखों में तो उनके बराबर कोई दिखाई ही नहीं देता।

कल्लू ने पुकारा—मूला, थोड़ा पानी दे। मुलिया पानी लेकर दौड़ी। चलते-चलते करनफूल को ऐसा ठुकराया कि आँगन में जा गिरा।

राजा ने जल्दी से करनफूल उठा लिया और क्रोध में भरा हुआ चल दिया।

(६)

रोग दिन-दिन बढ़ता गया। ठिकाने से दवा-दारू होती, तो शायद अच्छा हो जाता; मगर अकेली मुलिया क्या-क्या करती? दरिद्रता में बीमारी कोढ़ का खाज है।

आखिर एक दिन परवाना आ पहुँचा। मुलिया घर का काम-धन्धा करके आई, तो देखा कल्लू की साँस चल रही है। घबड़ाकर बोली—कैसा जी है तुम्हारा?

कल्लू ने सजल और दीनता भरी आँखों से देखा और हाथ जोड़कर सिर नीचा कर लिया। यही अन्तिम बिदाई थी।

मुलिया उसके सीने पर सिर रखकर रोने लगी और उन्माद की दशा में उसके आहत हृदय से रक्त की बूँदों के समान शब्द निकलने लगे—तुम से इतना भी न देखा गया भगवन! उस पर न्यायी और दयालु कहलाते हो! इसीलिये तुमने जन्म दिया! यही खेल-खेलने के लिये! हाय नाथ! तुम तो इतने निष्ठुर न थे! मुझे अकेली छोड़कर चले जा रहे हो! हाय! अब कौन मूला कह कर पुकारेगा! अब किसके लिये कुँये से पानी खीचूँगी! किसे बैठाकर खिलाऊँगी! पंखा डुलाऊँगी! सब सुख हर लिया, तो मुझे भी क्यों नहीं उठा लेते!

सारा गाँव जमा हो गया। सभी समझा रहे थे। मुलिया को धैर्य न होता था। यह सब मेरे कारण हुआ! यह बात उसे नहीं भूलती। हाय! उसे भगवान ने सामर्थ दिया होता, तो आज उसका सिरताज यों उठ जाता?

शव की दाह क्रिया की तैयारियाँ होने लगीं।

(७)

कल्लू को मरे छः महीने हो गये। मुलिया अपना कमाती है। खाती है और अपने घर में पड़ी है। दिन भर काम-धन्धे से छुट्टी नहीं मिलती। हाँ रात को एकान्त में कुछ देर रो लिया करती है।

उधर राजा की स्त्री भी मर गई; मगर दो-चार दिन के बाद वह फिर छैला बना घूमने लगा। और भी छूटा साँड़ हो गया। पहले स्त्री से झगड़ा हो जाने का कुछ डर था। अब वह भी न रहा। अब की नौकरी पर लौटा, तो सीधे मुलिया के घर पहुँचा। और इधर-उधर की बातें करने के बाद बोला—भाभी, अब तो मेरी अभिलाष पूरी करोगी या अभी और कुछ बाकी है। अब तो भैया भी नहीं रहे। इधर मेरी घरवाली भी सिधारी। मैंने तो उसका गम भुला दिया। तुम कब तक भैया के नाम को रोती रहोगी।

मुलिया ने घृणा से उसकी ओर देखकर कहा—भैया नहीं रहे तो क्या हुआ, भैया की याद तो है, उनका प्रेम तो है, उनकी सूरत तो दिल में हैं, उनकी बातें तो कानों में हैं। तुम्हारे लिये और दुनिया के लिये वह नहीं हैं, मेरे लिए वह अब वैसे ही जीते-जागते हैं। मैं अब भी उन्हें वैसे ही बैठे देखती हूँ। पहले तो देह का अन्तर था। अब तो वह मुझसे और भी नगीच हो गए हैं। और ज्यों-ज्यों दिन बीतेंगे और भी नगीच होते जायँगे। भरे-पुरे घर में दाने की कौन कदर करता है। जब घर खाली हो जाता है,

लिये विलायती गुड़ियाँ भी मँगा दो। दूसरों के खिलौने देखकर तरसती रहती है। जिस धन को प्राणों से भी प्रिय समझा, वह अंत को डाक्टरों ने खाया। बच्चे मुझे क्या याद करेंगे कि बाप था। अभागे बाप ने तो धन को लड़के-लड़की से प्रिय समझा। कभी पैसे की चीज भी लाकर नहीं दी।

अन्तिम समय जब संसार की असारता कठोर सत्य बनकर आखों के सामने खड़ी हो जाती है, तो जो कुछ न किया उसका खेद और जो कुछ किया उसपर पश्चात्ताप, मन को उदार और निष्कपट बना देता है।

सुशीला ने राजा को बुलाया और उसे छाती से लगाकर रोने लगी। वह मातृ-स्नेह जो पति की कृपणता से भीतर-ही-भीतर तड़पकर रह जाता था, इस समय जैसे खौल उठा। लेकिन मोटर के लिये रुपए कहाँ थे।

सेठजी ने पूछा—मोटर लोगे बेटा, अपनी अम्मा से रुपए लेकर भैया के साथ चले जावो। खूब अच्छी मोटर लाना।

राजा ने माता के आँसू और पिता का यह स्नेह देखा, तो उसका बाल हठ जैसे पिघल गया। बोला—अभी नहीं लूँगा।

सेठजी ने पूछा—क्यों ?

'जब आप अच्छे हो जायेंगे तब लूँगा।'

सेठजी फूट-फूटकर रोने लगे।

(२)

तीसरे दिन सेठ रामनाथ का देहान्त हो गया।

धनी के जीने से दुख बहुतों को होता है, सुख थोड़ों को। उनके मरने से दुख थोड़ों को होता है, सुख बहुतों को। महाब्राह्मणों की मण्डली अलग सुखी है, पण्डितजी अलग खुश हैं और शायद बिरादरी के लोग भी प्रसन्न हैं; इसलिए कि एक बराबर का आदमी कम हुआ। दिल से एक काँटा दूर हुआ। और पट्टीदारों का तो पूछना ही क्या। अब वह पुरानी कसर निकालेंगे। हृदय को शीतल करने का ऐसा अवसर बहुत दिनों के बाद मिला है।

आज पाचवाँ दिन है। वह विशाल भवन सूना पड़ा है। लड़के न रोते हैं न हँसते हैं। मन-मारे माँ के पास बैठे हैं और विधवा भविष्य की अपार चिन्ताओं के भार से दबी हुई निर्जीव-सी पड़ी है। घर में जो रुपये बच रहे थे, वे दाह-क्रिया की भेंट हो गए। और अभी सारे संस्कार बाकी पड़े हैं। भगवान् कैसे बेड़ा पार लगेगा।

किसी ने द्वार पर आवाज़ दी। महरा ने आकर सेठ धनीराम के आने की सूचना दी। दोनों बालक बाहर दौड़े। सुसीला का मन भी एक क्षण के लिये हरा हो गया। सेठ धनीराम बिरादरी के सरपंच थे। अबला का क्षुब्ध हृदय सेठजी की इस कृपा से पुलकित हो उठा। आखिर बिरादरी के मुखिया हैं। यह लोग अनाथों की खोज-खबर न लें तो कौन ले। धन्य हैं यह पुण्यात्मा लोग, जो मुसीबत में दीनों की रक्षा करते हैं।

यह सोचती हुई सुशीला घूँघट निकाले बरोठे में आकर खड़ी हो गई। देखा, तो धनीरामजी के अतिरिक्त और भी कई सज्जन खड़े हैं।

धनीरामजी बोले—बहूजी, भाई रामनाथ की अकाल मृत्यु से हम लोगों को जो दुख हुआ है, वह हमारा दिल ही जानता है। अभी उनकी उम्र ही क्या थी; लेकिन भगवत की इच्छा। अब तो हमारा यही धर्म है कि ईश्वर पर भरोसा रक्खें और आगे के लिये कोई राह निकालें। काम ऐसा करना चाहिये कि घर की आबरू बनी रहे और भाईजी की आत्मा सन्तुष्ट हो।

कुबेरदास ने सुशीला को कनखिओं से देखते हुए कहा—मर्याद बड़ी चीज है। उसकी रक्षा करना हमारा धर्म है? लेकिन कमली के बाहर पाँव निकालना भी तो उचित नहीं। कितने रुपये हैं तेरे पास बहू? क्या कहा कुछ नहीं।

सुशीला—घर में रुपये कहाँ हैं सेठजी। जो थोड़े बहुत थे, वह बीमारी में उठ गए।

धनीराम—तो यह नई समस्या खड़ी हुई। ऐसी दशा में हमें क्या करना चाहिए, कुबेरचन्दजी।

कुबेरचन्द—जैसे हो भोज तो करना ही पड़ेगा, हाँ अपनी सामर्थ देखकर काम करना चाहिए। मैं कर्ज लेने को न कहूँगा, हाँ घर में जितने रुपयों का प्रबन्ध हो सके, उसमें हमें कोई कसर न छोड़नी चाहिए। मृतजीव के साथ भी तो हमारा कुछ कर्त्तव्य है। अब तो वह फिर कभी न आएगा, उससे सदैव के लिये नाता टूट रहा है। इसलिये सब कुछ हैसियत के मुताबिक होना चाहिये। ब्राह्मणों को तो वही मामूली दो मिठाइयाँ दे दी जायँगी; लेकिन बिरादरी का भोज तो इसी हिसाब करना पड़ेगा कि मर्याद का निबाह हो।

धनीराम—तो क्या तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है बहूजी ? दो-चार हजार भी नहीं !

सुशीला—मैं आपसे सत्य कहती हूँ, मेरे पास कुछ नहीं है। ऐसे समय झूठ बोलूँगी !

धनीराम ने कुबेरदास की ओर अर्ध अविश्वास से देखकर कहा—तब तो यह मकान बेचना पड़ेगा ?

कुबेरदास—इसके सिवा और क्या हो सकता है। नाक कटाना तो अच्छा नहीं। रामनाथ का कितना नाम था। बिरादरी के स्तम्भ थे। यही इस समय एक उपाय है। २० हजार मेरे आते हैं। सूद-बट्टा लगाकर कोई २५ हजार मेरे हो जायेंगे। बाकी भोज में खर्च हो जायगा। अगर कुछ बच रहा तो बाल-बच्चों के काम आ जायगा।

धनीराम—आपके यहा कितने पर घर बन्धक रखा था।

कुबेर—२० हजार पर। रुपये सैकड़े सूद।

धनी०—मैंने तो कुछ कम सुना है।

कुबेर—उसका तो रेहननाम रखा है। जबानी बात-चीत थोड़े ही है। मैं दो-चार हजार के लिए झूठ न बोलूँगा।

धनी०—नहीं-नहीं, यह मैं कब कहता हूँ। तो तूने सुन लिया बाई। पंचों की सलाह है कि मकान बेच दिया जाय।

सुशीला का छोटा भाई सन्तलाल भी इसी समय आ पहुँचा। यह अन्तिम वाक्य उसके कान में पड़ गया। बोल उठा—किस लिये मकान बेच दिया जाय ? बिरादरी के भोज के लिये ! बिरादरी

तो खा पीकर राह लेगी, इन अनाथों की रक्षा कैसे होगी। इनके भविष्य के लिये भी तो कुछ सोचना चाहिए।

धनीराम ने कोप भरी आँखों से देखकर कहा—आपको इन मामलों में टाँग अड़ाने का कोई अधिकार नहीं। केवल भविष्य की चिन्ता करने से काम नहीं चलता। मृतक का पीछा भी किसी तरह सुधारना ही पड़ता है। आपका क्या बिगड़ेगा। हँसी तो हमारी होगी। संसार में मर्याद से प्रिय कोई वस्तु नहीं। मर्याद के लिये प्राण तक दे देते हैं। जब मर्याद ही न रही, तो क्या रहा! अगर हमारी सलाह पूछोगे, तो हम यही कहेंगे। आगे बाई को अखतियार है, जैसा चाहे करे; पर हम से कोई सरोकार न रहेगा। चलिये कुबेरदासजी, चलें।

सुशीला ने भयभीत होकर कहा—भैया की बातों का विचार न कीजिए, इनकी तो यह आदत है। मैंने तो आपकी बात नहीं टाली। आप मेरे बड़े हैं। घर का हाल आपको मालूम है। मैं अपने स्वामी की आत्मा को दुखी नहीं करना चाहती; लेकिन जब उनके बाल-बच्चे ठोकरें खायँगे, तो क्या उनकी आत्मा दुखी न होगी। बेटी का ब्याह करना ही है। लड़के को पढ़ाना-लिखाना है ही। ब्राह्मणों को खिला दीजिये; लेकिन बिरादरी करने की मुझ में सामर्थ नहीं है।

दोनों महानुभावों को जैसे थप्पड़ लगा। इतना बड़ा अधर्म! भला ऐसी बात भी जबान से निकाली जाती है। पंच लोग अपने मुँह में कालिख न लगने देंगे। दुनिया विधवा को न हँसेगी।

हँसी होगी पंचों की। यह जगहँसाई वे कैसे सह सकते हैं। ऐसे घर के द्वार पर झाँकना भी पाप है।

सुशीला रोकर बोली—मैं अनाथ हूँ, नादान हूँ, मुझपर क्रोध न कीजिये। आप लोग ही मुझे छोड़ देंगे, तो मेरा कैसे निर्वाह होगा।

इतने में दो महाशय और आ विराजे। एक बहुत मोटे, दूसरे बहुत दुबले। नाम भी गुणों के अनुसार ही—भीमचन्द और दुर्बलदास। धनीराम ने संक्षेप में यह परिस्थित उन्हें समझा दी। दुर्बलदास ने सहृदयता से कहा—तो ऐसा क्यों नहीं करते कि हम लोग मिलकर कुछ रुपये दे दें। जब इसका लड़का सयाना हो जायगा, तो रुपये मिल ही जायेंगे। अगर न भी मिलें, तो एक मित्र के लिये कुछ बल खा जाना कोई बड़ी बात नहीं।

संतलाल ने प्रसन्न होकर कहा—इतनी दया आप करेंगे, तो क्या पूछना।

कुबेरदास त्योरी चढ़ाकर बोले—तुम तो बेसिर पैर की बातें करने लगे दुर्बलदासजी। इस बखत के बाजार में किसके पास फालतू रुपये रखे हुए हैं।

भीमचन्द—सो तो ठीक है, बाजार की ऐसी मन्दी तो कभी देखी नहीं; पर निबाह तो करना चाहिए।

कुबेरदास अकड़ गये। वह सुशीला के मकान पर दाँत लगाए हुए थे। ऐसी बातों से उनके स्वार्थ में बाधा पड़ती थी। वह अपने रुपये अब वसूल करके छोड़ेंगे। औरतों के झमेले में नहीं पड़ेंगे।

भीमचन्द ने उन्हें किसी तरह सचेत किया; लेकिन भोज तो देना ही पड़ेगा। उस कर्त्तव्य का पालन न करना समाज की नाक कटाना है।

सुशीला ने दुर्बलदास में सहृदयता का आभास देखा। उनकी ओर दीन नेत्रों से देखकर बोली—मैं आप लोगों से बाहर थोड़े ही हूँ। आप लोग मालिक हैं, जैसा उचित समझें वैसा करें।

दुर्बलदास—तेरे पास कुछ थोड़े बहुत गहनें तो होंगे बाई।

हाँ गहने हैं। आधे तो बीमारी में बिक गए, आधे बचे हैं। सुशीला ने सारे गहने लाकर पंचों के सामने रख दिए; पर यह तो मुश्किल से तीन हजार में उठेंगे।

दुर्बलदास ने पोटली को हाथ में तौलकर कहा—तीन हज़ार को कैसे उठ जायेंगे। मैं साढ़े तीन हज़ार दिला दूँगा।

भीमचन्द ने फिर पोटली को तौलकर कहा—मेरी बोली चार हज़ार की है।

कुबेरदास को मकान की बिक्री का प्रश्न छेड़ने का अवसर फिर मिला—चार हज़ार ही में क्या हुआ जाता है। बिरादरी का भोज है या दोष मिटाना है। बिरादरी में कम-से-कम दस हज़ार का खरचा है। मकान तो निकालना ही पड़ेगा।

संतलाल ने ओंठ चबाकर कहा—मैं कहता हूँ आप लोग क्या इतने निर्दयी हैं! आप लोगों को अनाथ बालकों पर भी दया नहीं आती। क्या उन्हें रास्ते का भिखारी बनाकर छोड़ेंगे।

लेकिन संतलाल की फरियाद पर किसी ने ध्यान न दिया।

मकान की बात-चीत अब नहीं टाली जा सकती थी। बाजार मन्दा है। ३० हजार से बेसी नहीं मिल सकते। २५ हजार तो कुबेरदास के हैं। पाँच हजार बचेंगे। चार हजार गहनों से आ जायेंगे। इस तरह ९ हजार में बड़ी किफायत से ब्रह्म भोज और बिरादरी दोनों निपटा दिए जायेंगे।

सुशीला ने दोनों बालकों को सामने करके करबद्ध होकर कहा—पंचो, मेरे बच्चों का मुँह देखिए। मेरे घर में जो कुछ है, वह आप सब ले लेजिए; लेकिन मकान छोड़ दीजिए। मुझे कहीं ठिकाना न मिलेगा। मैं आप के पैरों पड़ती हूँ, मकान इस समय न बेचें।

इस मूर्खता का क्या जवाब दिया जाय! पंचलोग तो खुद चाहते थे कि मकान न बेचना पड़े। उन्हें अनाथों से कोई दुश्मनी नहीं थी; किन्तु बिरादरी का भोज और किस तरह किया जाय। अगर विधवा कम-से-कम पाँच हजार का जोगाड़ और कर दे, तो मकान बच सकता है; पर जब वह ऐसा नहीं कर सकती, तो मकान बेंचने के सिवाय और तो कोई उपाय नहीं है।

कुबेरदास ने अंत में कहा—देख बाई, बाजार की दशा इस समय खराब है। रुपये किसी से उधार नहीं मिल सकते। बालबच्चों के भाग में लिखा होगा, तो भगवान और किसी हीले से दे देगा। हीले रोजी बहाने मौत। बाल बच्चों की चिन्ता मत कर। भगवान जिसको जन्म देते हैं, उसकी जीविका की जुगत पहिले ही से कर देते हैं। हम तुझे समझाकर हार गये। अगर तूँ अब भी अपनी

हठ न छोड़ेगी, तो हम बात भी न पूछेंगे। फिर यहाँ तेरा रहना मुश्किल हो जायगा। शहरवाले तेरे पीछे पड़ जायेंगे।

विधवा सुशीला अब और क्या करती। पंचों से लड़कर वह कैसे रह सकती थी। पानी में रहकर मगर से कौन वैर कर सकता है। घर में जाने के लिए उठी पर वहीं मूर्छित होकर गिर पड़ी। अभी तक आशा संभाले हुए थी। बच्चों के पालन-पोषण में वह अपना वैधव्य भूल सकती थी ; पर अब तो अन्धकार था, चारों ओर।

(३)

सेठ रामनाथ के मित्रों का उनके घर पर पूरा अधिकार था। मित्रों का अधिकार न हो तो किसका हो। स्त्री कौन होती है। जब वह इतनी मोटी-सी बात नहीं समझती कि बिरादरी करना और धूम-धाम से, दिल खोलकर करना लाजिमी बात है, तो उससे और कुछ कहना व्यर्थ है। गहने कौन खरीदे ? भीमचन्द चार हजार दाम लगा चुके थे; लेकिन अब उन्हें मालूम हुआ कि उनसे भूल हुई थी। दुर्बलदास ने तीन हजार लगाए थे। इसलिए सौदा उन्हीं के हाथ हुआ। इस बात पर दुर्बलदास और भीमचन्द में तकरार भी हो गई ; लेकिन भीमचन्द को मुँह की खानी पड़ी। न्याय दुर्बल के पक्ष में था।

धनीराम ने कटाक्ष किया—देखो दुर्बलदास, माल तो ले जाते हो ; पर तीन हजार से बेसी का है। मैं नीति की हत्या न होने दूँगा।

कुबेरदास बोले—अजी तो घर में ही तो है, कहीं बाहर तो नहीं गया। एक दिन मित्रों की दावत हो जायगी।

इसपर चारों महानुभाव हँसे। इस काम से फुरसत पाकर अब मकान का प्रश्न उठा। कुबेरदास ३० हजार देने पर तैयार थे; पर कानूनी कारवाई किए विना सन्देह की गुंजाइश थी। यह गुंजाइश क्योंकर रखी जाय। एक दलाल बुलाया गया। नाटा-सा आदमी था, पोपला मुँह, कोई ७० की अवस्था। नाम था चोखेलाल।

कुबेरदास ने कहा—चोखेलालजी से हमारी तीस साल की दोस्ती है। आदमी क्या रत्न हैं।

भीमचन्द—देखो चोखेलाल, हमें यह मकान बेंचना है। इसके लिए कोई अच्छा ग्राहक लाओ। तुम्हारी दलाली पक्की।

कुबेरदास—बाजार का हाल अच्छा नहीं है; लेकिन फिर भी हमें यह तो देखना पड़ेगा कि रामनाथ के बाल-बच्चों को टोटा न हो। (चोखेलाल के कान में) ३० से आगे न जाना।

भीमचन्द—देखिये कुबेरदास, यह अच्छी बात नहीं है।

कुबेरदास—तो मैं क्या कर रहा हूँ। मैं तो यही कह रहा था कि अच्छे दामलगवाना।

चोखेलाल—आप लोगों को मुझसे यह कहने की जरूरत नहीं। मैं अपना धर्म समझता हूँ। रामनाथजी मेरे भी मित्र थे। मुझे यह भी मालूम है कि इस मकान के बनवाने में एक लाख से कम एक पाई भी नहीं लगे; लेकिन बाजार का हाल क्या आप लोगों से छिपा है। इस समय इसके २५ हजार से बेसी नहीं

मिल सकते। सुभीते से कोई ग्राहक से तो दस-पाँच हजार और मिल जायेंगे; लेकिन इस समय तो २५ हजार भी मुश्किल से मिलेंगे। लो दही अर लाव दही की बात है।

धनीराम—२५, हजार तो बहुत कम हैं भाई। और न सही ३० जहार तो करा दो।

चोखेलाल—३० क्या मैं तो ४० करा दूँ कोई ग्राहक तो मिले। आप लोग कहते हैं तो मैं ३० हजार की बात चीत करूँगा।

धनीराम—जब ३० हजार में ही देना है तो कुबेरदासजी ही क्यों न लें ले। इतना सस्ता माल दूसरों को क्यों दिया जाय।

कुबेरदास—आप सब लोगों की राय हो, तो ऐसा ही कर लिया जाय।

धनीरामजी ने हाँ, हाँ कहकर हामी भरी। भीमचन्द्र मन में ऐंठकर रह गए। यह सौदा भी पक्का हो गया। आजही वकील ने बैनामा लिखा। तुरन्त रजिस्ट्री भी हो गई। सुशीला के सामने बैनामा लाया गया, तो उसने एक ठण्डी साँस ली और सजल नेत्रों से उसपर हस्ताक्षर कर दिए। अब उसे उसके सिवा और कहीं शरण नहीं है। बेवफा मित्र की भाँति यह घर भी सुख के दिनों में साथ देकर दुख के दिनों में उसका साथ छोड़ रहा है।

पंचलोग सुशीला के आँगन में बैठे बिरादरी के रुक्के लिख रहे हैं और अनाथा विधवा ऊपर झरोखे पर बैठी भाग्य को रो रही है। इधर रुक्का तैयार हुआ। उधर विधवा की आँखों से आँसू की बूँदे निकल कर रुक्के पर गिर पड़ीं।

लगा। आम लड़कों की भाँति वह भी स्वार्थी था। बहन से पूछा भी नहीं।

सुशीला ने कड़ी आँखों से देखकर कहा—बहन को भी दे दे। अकेला ही खा जायगा।

मोहन लज्जित हो गया। उसकी आँखें डबडबा आईं।

रेवती बोली—नहीं अम्माँ, कितना मिला ही है। तुम खाओ मोहन, तुम्हें जल्दी नींद आ जाती है। मैं तो दाल पक जायगी तो खाऊँगी।

उसी वक्त दो आदमियों ने आवाज दी। रेवती ने बाहर जाकर पूछा। यह सेठ कुबेरदास के आदमी थे। मकान खाली कराने आए थे। क्रोध से रेवती की आँखें लाल हो गईं।

बरोठे में आकर कहा—अभी मेरे पति का पीछे हुए एक महीना भी नहीं हुए, मकान खाली कराने की धुन सवार हो गई। मेरा ५० हजार का घर ३० हजार में ले लिया, पाँच हजार सूद के उड़ाए, फिर भी तस्कीन नहीं होती। कह दो मैं अभी खाली नहीं करूँगी।

मुनीम ने नम्रता से कहा—बाईजी, मेरा क्या अख्त्यार है। मैं तो केवल सन्देसिया हूँ। जब चीज दूसरे की हो गई, तो आपको छोड़नी ही पड़ेगी। झंझट करने से क्या मतलब।

सुशीला भी समझ गई, ठीक ही कहता है। गाय हत्या के बल कै दिन खेत चरेगी। नर्म होकर बोली—सेठजी से कहो मुझे दस-पाँच दिन की मुहलत दें। लेकिन नहीं। कुछ मत कहो। क्यों दस-

पाँच दिन के लिये किसी का एहसान लूँ। मेरे भाग्य में इस घर में रहना लिखा होता, तो निकलता ही क्यों ?

मुनीम ने पूछा—तो कल सबेरे तक खाली हो जायगा ?

सुशीला—हाँ, हाँ कहती तो हूँ; लेकिन सबेरे तक क्यों, मैं अभी खाली किए देती हूँ। मेरे पास कौन-सा बड़ा सामान ही है। तुम्हारे सेठजी का रात भर का किराया मारा जायगा। जाकर ताला-वाला लाओ या लाए हो ?

मुनीम—ऐसी क्या जल्दी है बाई। कल सावधानी से खाली कर दीजियेगा।

सुशीला—कल का झगड़ा क्यों रखूँ मुनीमजी, आप जाइए ताला लाकर डाल दीजिए। यह कहती हुई सुशीला अन्दर गई, बच्चों को भोजन कराया, एक रोटी आप किसी तरह निगली, बरतन धोए, फिर एक एक्का मँगवाकर उसपर अपना मुख्तसर सामान लादा और भारी हृदय से उस घर से हमेशा के लिये बिदा हो गई।

जिस वख्त यह घर बनाया था, मनमें कितनी उमंगें थीं। इसके प्रवेश में कई हजार ब्राह्मणों का भोज हुआ था। सुशीला को इतनी दौड़-धूप करनी पड़ी थी कि वह महीने भर बीमार रही थी। इसी घर में उसके दो लड़के मरे थे। यहीं उसका पति मरा था। मरने वालों की स्मृतियों ने उसकी एक-एक ईंट को पवित्र कर दिया था। एक-एक पत्थर मानो उसके हर्ष से सुखी और उसके शोक से दुखी होता था। वह घर आज उससे छूटा जा रहा है।

उसने रात एक पड़ोसी के घर में काटी और दूसरे दिन १०) महीने पर एक गली में दूसरा मकान ले लिया।

(६)

इस नए कमरे में इन अनाथों ने तीन महीने जिस कष्ट से काटे, वह समझने वाले समझ सकते हैं। भला हो बेचारे संतलाल का। वह दस-पाँच रुपए से मदद कर दिया करता था। अगर सुशीला दरिद्र घर की होती तो पिसाई करती, कपड़े सीती, किसी के घर में टहल करती; पर जिन कामों को बिरादरी नीच समझती है, उनका सहारा कैसे लेती। नहीं तो लोग कहते यह सेठ रामनाथ की स्त्री है! उस नाम की भी तो लाज रखनी थी। समाज के चक्रव्यूह से किसी तरह भी तो छुटकारा नहीं होता। लड़की के दो एक गहने बच रहे थे। वह भी बिक गए। जब रोटियों ही के लाले थे, तो घर का किराया कहाँ से आता। तीन महीने के बाद घर का मालिक, जो उसी बिरादरी का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति था, और जिसने मृतक भोज में खूब बढ़-बढ़कर हाथ मारे थे, अधीर हो उठा। बेचारा कितना धैर्य रखता। ३०) का मामला है, रुपए आठ आने की बात नहीं है। इतनी बड़ी रकम नहीं छोड़ी जाती।

आखिर एक दिन सेठजी ने आकर लाल आखें करके कहा—अगर तूँ किराया नहीं दे सकती, तो घर खाली कर दे। मैंने बिरादरी के नाते इतनी मुरौव्वत की। अब किसी तरह काम नहीं चल सकता।

सुशीला बोली—सेठजी, मेरे पास रुपया होते, तो पहले

आपका किराया देकर तब पानी पीती। आप ने इतनी मुरौवत की, इसके लिये मेरा सिर आपके चरणों पर है; लेकिन अभी मैं बिलकुल खाली हाथ हूँ। यह समझ लीजिए कि एक माई के बाल-बच्चों की परवरिस कर रहे हैं। और क्या कहूँ।

सेठ—चल-चल, इस तरह की बातें बहुत सुन चुका। बिरादरी का आदमी है, तो उसे चूस लो। कोई मुसलमान होता, तो उसे चुपके से महीने-महीने दे देतीं, नहीं तो उसने निकाल बाहर किया होता। मैं बिरादरी का हूँ; इसलिए मुझे किराया देने की दरकार नहीं। मुझे माँगना ही नहीं चाहिए। यही तो बिरादरी के साथ करना चाहिए।

इसी समय रेवती भी आकर खड़ी हो गई। सेठजी ने उसे सिर से पाँव तक देखा और तब किसी कारण से बोले—अच्छा, यह लड़की तो सयानी हो गई। कहीं इसकी सगाई की बात-चीत नहीं की?

रेवती तुरन्त भाग गई। सुशीला ने इन शब्दों में आत्मीयता की झलक पाकर पुलकित कंठ से कहा—अभी तो कहीं बात-चीत नहीं हुई सेठजी। घर का किराया तक तो अदा नहीं कर सकती, सगाई क्या करूँ। फिर अभी छोटी भी तो है।

सेठजी ने तुरन्त शास्त्रों का आधार दिया। कन्याओं के विवाह की यही अवस्था है। धर्म को कभी नहीं छोड़ना चाहिए। किराये की कोई बात नहीं है। हमें क्या मालूम था कि सेठ रामनाथ के परिवार की यह दशा है।

सुशीला—तो आपकी निगाह में कोई अच्छा बर है ? यह तो आप जानते ही हैं, मेरे पास लेने-देने को कुछ नहीं है।

झाबरमल (इन सेठजी का यही नाम था) लेने-देने का कोई झगड़ा नहीं होगा बाईजी। ऐसा घर है कि लड़की आजीवन सुखी रहेगी। लड़का भी उसके साथ रह सकता है। कुल का सच्चा, हर तरह से सम्पन्न परिवार है। हाँ बर दोहाजू (दुजबर) है।

सुशीला—उम्र अच्छी होनी चाहिए, दोहाजू होने से क्या होता है।

झाबर—उम्र भी कुछ ज्यादा नहीं। अभी चालीसवाँ ही साल है उसका ; पर देखने में अच्छा हृस्ट पुस्ट है। मर्द की उम्र उसका भोजन है। बस यह समझ ले कि परिवार का उद्धार हो जायगा।

सुशीला ने अनिच्छा के भाव से कहा—अच्छा, मैं सोचकर जवाब दूँगी। एक बार मुझे दिखा देना।

झाबरमल—दिखाने को कहीं नहीं जाना है बाई। वह तो तेरे सामने हीं खड़ा है।

सुशीला ने घृणापूर्ण नेत्रों से उसकी ओर देखा। इस पचास साल के बुड्ढे की यह हवस ! छाती का मांस लटक कर नाभी तक आ पहुँचा है, फिर भी विवाह की धुन सवार है। यह दुष्ट समझता है कि प्रलोभनों में पकड़कर मैं अपनी लड़की उसके गले बाँध दूँगी। वह अपनी बेटी को आजीवन क्वारी रखेगी ; पर ऐसे मृतक से विवाह करके उसका जीवन नष्ट न करेगी ; पर उसने अपने क्रोध को शान्त किया। समय का फेर है, नहीं ऐसों को उससे

ऐसा प्रस्ताव करने का साहस ही क्यों होता। बोली—आपकी इस कृपा के लिये आपको धन्यवाद देती हूँ सेठजी ; पर मैं कन्या का विवाह आप से नहीं कर सकती।

झाबरमल—तो और क्या तूँ समझती है कि तेरी कन्या के लिये बिरादरी में कोई कुमार मिल जायगा।

सुशीला—मेरी लड़की क्वारी रहेगी।

झाबर—और रामनाथजी के नाम को कलंकित करेगी।

सुशीला—तुम्हें मुझ से ऐसी बातें करते लाज नहीं आती। नाम के लिये घर खोया, सम्पत्ति खोई ; पर कन्या कुँये में नहीं डूबा सकती।

झाबर—तो मेरा केराया दे दे।

सुशीला—अभी मेरे पास रुपये नहीं हैं।

झाबरमल ने भीतर घुसकर गृहस्थी की एक-एक वस्तु निकाल गली में फेंक दी, घड़ा फूट गया, मटके टूट गए। सन्दूक के कपड़े बिखर गये। सुशीला तटस्थ खड़ी अपने अदिन की यह क्रूर क्रीड़ा देखती रही।

घर का यों विध्वन्स करके झाबरमल ने घर में ताला डाल दिया और अदालत से रुपए वसूल करने की धमकी देकर चले गए।

(७)

बड़ों के पास धन होता, छोटों के पास हृदय होता है। धन से बड़े-बड़े ब्यापार होते हैं, बड़े-बड़े महल बनते हैं, नौकर-चाकर होते

हैं, सवारी-सिकारी होती है ; हृदय से सम्वेदना होती है, आँसू निकलते हैं।

उसी मकान से मिली हुई एक साग-भाजी बेचनेवाली खटकिन की दूकान थी। वृद्धा, विधवा निपूती स्त्री थी, बाहर से आग, भीतर से पानी। झाबरमल को सैकड़ों सुनाई और सुशीला की एक-एक चीज उठाकर अपने घर में ले गई। मेरे घर में रहो बहू। मुरौवत में आ गई, नहीं तो उसकी मूछें उखाड़ लेती। मौत सिर पर नाच रही है, आगे नाथ न पीछे पगहा। और धन के पीछे मरा जाता है जाने छाती पर लादकर ले जायगा। तुम चलो मेरे घर में रहो। मेरे यहाँ किसी बात का खटका नहीं। बस मैं अकेली हूँ। एक टुकड़ा मुझे भी दे देना।

सुशीला ने डरते-डरते कहा—माता, मेरे पास सेर भर आटे के सिवा और कुछ नहीं है। मैं तुम्हें केराया कहाँ से दूँगी।

बुढ़िया ने कहा—मैं झाबरमल नहीं हूँ बहू, न कुबेरदास हूँ। मैं तो समझता हूँ जिन्दगी में सुख भी है, दुख भी है। सुख में इतराओ मत, दुख में घबड़ाओ मत। तुम्हीं से चार पैसे कमाकर अपना पेट पालती हूँ। तुम्हें उस दिन भी देखा था, जब तुम महल में रहती थीं। और आज भी देख रही हूँ, जब तुम अनाथ हो। जो मिजाज तब था, वही अब है। मेरे धन्य भाग कि तुम मेरे घर में आओ। मेरी आँखें फूटी हैं, जो तुमसे केराया माँगने जाऊँगी।

इन सान्त्वना से भरे हुए सरल शब्दों ने सुशीला के हृदय का

बोझ हलका कर दिया। उसने देखा सच्ची सज्जनता भी दरिद्रों और नीचों ही के पास रहती है। बड़ों की दया भी बड़ी होती है, अहंकार का दूसरा रूप !

इस खटकिन के साथ रहते हुए सुशीला को छः महीने हो गये थे। सुशीला का उससे दिन-दिन स्नेह बढ़ता जाता था। वह जो कुछ पाती लाकर सुशीला के हाथ रख देती। दोनों बालक उसकी दो आँखें थीं। मजाल न थी कि पड़ोस का कोई आदमी उन्हें बड़ी आँखों से देख ले। बुढ़िया दुनिया सिर पर उठा लेती। सन्तलाल हर महीने कुछ-न-कुछ दे दिया करता था। इससे रोटी-दाल चली जाती थी।

कातिक का महिना था। ज्वर का प्रकोप हो रहा था। मोहन एक दिन खेलता-कूदता बीमार पड़ गया और तीन दिन तक अचेत पड़ा रहा। ज्वर इतने जोर का था कि पास खड़े रहने से लपट-सी निकलती थी। बुढ़िया ओझे सयानों के पास दौड़ती फिरती थी; पर ज्वर उतरने का नाम न लेता था। सुशीला को भय हो रहा था यह टाइफ़ाइड है। इससे उसके प्राण सूख रहे थे।

चौथे दिन उसने रेवती से कहा—बेटी, तूने बड़े पंचजी का घर तो देखा है। जाकर उनसे कह—भैया बीमार है, कोई डाक्टर भेज दें।

रेवती को कहने भर की देर थी। दौड़ती हुई सेठ कुबेरदास के पास गई।

कुबेरदास बोले—डाक्टर की फीस १६) है। तेरी माँ दे देगी ?

रेवती ने निराश होकर कहा—अम्मा के पास रुपये कहाँ है।

कुबेर—तो फिर किस मुह से मेरे डाक्टर को बुलाती है। तेरा मामा कहाँ है? उससे जाकर कह सेवा समिति से कोई डाक्टर बुला ले जाय, नहीं खैराती अस्पताल में क्यों नहीं लड़के को ले जाती। या अभी वही पुरानी बू समाई हुई है, कैसी मूर्ख स्त्री है, घर में टका नहीं और डाक्टर का हुकुम लगा दिया। समझती होगी फीस पंचजी दे देंगे। पंचजी क्यों फीस दें? बिरादरी का धन धर्म-कार्य के लिये है। यों उड़ाने के लिये नहीं है।

रेवती माँ के पास लौटी, पर जो कुछ सुना था, वह उससे न कह सकी। घाव पर नमक क्यों छिड़के। बहाना कर दिया, बड़े पंचजी कहीं गये हैं।

सुशीला—तो मुनीम से क्यों नहीं कहा? यहाँ क्या कोई मिठाई खाए जाता था जो दौड़ी चली आई?

इसी वक्त सन्तलाल एक वैद्यजी को लेकर आ पहुँचा।

(८)

वैद्यजी भी एक दिन आकर दूसरे दिन न लौटे। सेवा समिति के डाक्टर भी दो दिन बड़ी मिन्नतों से आये। फिर उन्हें भी अवकाश न रहा और मोहन की दशा दिन-दिन बिगड़ती जाती थी। महीना बीत गया; पर ज्वर ऐसा चढ़ा कि एक क्षण के लिये भी न उतरा। उसका चेहरा इतना सूख गया था कि देखकर दया आती थी। न कुछ बोलता, न कहता, यहाँ तक कि करवट भी न बदल सकता था। पड़े-पड़े देह की खाल फट गई, सिर के बाल

गिर गये। हाथ-पाँव लकड़ी हो गये। सन्तलाल काम से छुट्टी पाता तो आ जाता; पर इससे क्या होता। तीमारदारी दवा तो नहीं है।

एक दिन सन्ध्या समय उसके हाथ ठण्डे हो गये। माता के प्राण पहले ही से सूखे हुए थे। यह हाल देखकर रोने-पीटने लगी। मन्नतें तो बहुतेरी हो चुकी थी, रोती हुई मोहन की खाट के सात फेरे करके हाथ बाँधकर बोली—भगवन! यही मेरे इस जन्म की कमाई है। अपना सर्वस्व खोकर भी मैं बालक को छाती लगाए हुए सन्तुष्ट थी; लेकिन यह चोट न सही जायगी। तुम इसे अच्छा कर दो। इसके बदले मुझे उठा लो। बस, मैं यही दया चाहती हूँ। दयामय!

संसार के रहस्य कौन समझ सकता है? क्या हम में से बहुतों का यह अनुभव नहीं कि जिसका हम ने बेईमानी करके कुछ रकम उड़ाई, उसी दिन उस रकम का दुगना नुकसान हो गया। सुशीला को उसी दिन रात को ज्वर आ गया और उसी दिन मोहन का ज्वर उतर गया। बच्चे की सेवा शुश्रूषा में आधी तो यों ही रह गई थी, इस बीमारी ने ऐसा पकड़ा कि फिर न छोड़ा। मालूम नहीं देवता बैठे सुन रहे थे। या क्या, उसकी याचना अक्षरशः पूरी हुई। पन्द्रहवें दिन मोहन चारपाई से उठकर माँ के पास आया और उसकी छाती पर सिर रखकर रोने लगा। माता ने उसके गले में बाहें डालकर उसे छाती से लगा लिया और बोली—क्यों रोते हो बेटा! मैं अच्छी हो जाऊँगी। अब मुझे क्या चिन्ता। भगवान तुम्हारे पालनेवाले हैं। वही तुम्हारे रक्षक हैं। यही तुम्हारे

पिता हैं। अब मैं सब तरफ से निश्चिन्त हूँ। जल्द अच्छी हो जाऊँगी।

मोहन बोला—जिया तो कहती है, अम्मा अब न अच्छी होगी।

सुशीला ने बालक का चुम्बन लेकर कहा—जिया पगली है, उसे कहने दो। मैं तुम्हें छोड़कर कहीं न जाऊँगी। मैं सदा तुम्हारे साथ रहूँगी। हाँ, जिस दिन तुम कोई अनबाध करोगे, किसी की कोई चीज उठा लोगे, उसी दिन मैं मर जाऊँगी।

मोहन ने प्रसन्न होकर कहा—तो तुम मेरे पास से कभी नहीं जाओगी मा?

सुशीला ने कहा—कभी नहीं बेटा, कभी नहीं।

उसी रात को दुख और विपत्ति की मारी हुई यह अनाथ विधवा दोनों अनाथ बालकों को भगवान पर छोड़कर परलोक सिधार गई।

(९)

इस घटना को तीन साल हो गये हैं। मोहन और रेवती दोनों उसी वृद्धा के पास रहते हैं। बुढ़िया माँ तो नहीं है; लेकिन माँ से बढ़कर है। रोज मोहन को रात की रक्खी रोटियाँ खिलाकर गुरुजी की पाठशाला में पहुँचा आती है। छुट्टी के समय जाकर लिवा लाती है। रेवती का अब चौदहवाँ साल है। वह घर का सारा काम—पीसना, कूटना, चौका-बरतन, झाड़ू-बुहारू—करती है। बुढ़िया सौदा बेचने चली जाती है, तो वह दूकान पर भी आ बैठती है।

एक दिन बड़े पंच सेठ कुबेरदास ने उसे बुला भेजा और

बोले—तुझे दूकान पर बैठते शर्म नहीं आती, सारी बिरादरी की नाक कटा रही है। खबरदार जो कल से दूकान पर बैठी। मैंने तेरे पाणिग्रहण के लिये झाबरमलजी को पक्का कर लिया है।

सेठानी ने समर्थन किया—तू अब सयानी हुई बेटी, अब तेरा इस तरह बैठना अच्छा नहीं। लोग तरह-तरह की बातें करने लगते हैं। सेठ झाबरमल तो राजी ही न होते थे, हमने बहुत कह-सुनकर राजी किया है। बस समझ ले कि रानी हो जायगी। लाखों की सम्पत्ति है, लाखों की। तेरे धन्य भाग कि ऐसा बर मिला। तेरा छोटा भाई है, उसको भी कोई दूकान करा दी जायगी।

सेठ—बिरादरी की कितनी बदनामी है!

सेठानी—है ही।

रेवती ने लज्जित होकर कहा—मैं क्या जानूँ, आप मामा से कहें।

सेठ (बिगड़कर) वह कौन होता है! टके पर मुनीमी करता है; उससे मैं क्या पूछूं। मैं बिरादरी का पंच हूँ। मुझे अधिकार है कि जिस काम से बिरादरी का कल्याण देखूँ वह करूँ। मैंने और पंचों से राय ले ली है। सब मुझ से सहमत हैं। अगर तू यों नहीं मानेगी, तो हम अदालती कारवाई करेंगे। तुझे खरच-बरच का काम होगा, यह लेती जा।

यह कहते हुए उन्होंने २०) का नोट रेवती की तरफ फेंक दिया। रेवती ने नोट उठाकर वहीं पुरजे-पुरजे कर डाले और तमतमाए मुख से बोली—बिरादरी ने जब हम लोगों की बात न

पूछी, जब हम रोटियों को मुहताज थे। मेरी माता मर गई, कोई झाँकने तक न गया। मेरा भाई बीमार हुआ, किसी ने खबर तक न ली। ऐसी बिरादरी की मुझे परवाह नहीं है।

रेवती चली गई, तो झाबरमल कोठरी से निकल आये। चेहरा उदास था।

सेठानी ने कहा—लड़की बड़ी घमण्डिन है। आँख का पानी मर गया है।

झाबर—बीस रुपए खराब हो गए। ऐसा फाड़ा है कि जुड़ भी नहीं सकते।

कुबेरदास—तुम घबड़ाओ नहीं; मैं इसे अदालत से ठीक करूँगा। जाती कहाँ है।

झाबर—अब तो आप का भरोसा है।

बिरादरी के बड़े पंच की बात कहीं मिथ्या हो सकती है। रेवती नाबालिग थी। माता-पिता नहीं थे। ऐसी दशा में पंचों का उस पर पूरा अधिकार था। वह बीरादरी के दबाव में नहीं रहना चाहती है, न चाहे। कानून बिरादरी के अधिकार को उपेक्षा नहीं कर सकता।

सन्तलाल ने यह माजरा सुना, तो दाँत पीसकर बोले—न जाने इस बिरादरी का भगवान कब अन्त करेंगे।

रेवती—तो क्या बिरादरी मुझे जबरदस्ती अपने अधिकार में ले सकती है?

सन्तलाल—हाँ बेटी, धनिकों के हाथ में तो कानून भी है।

रेवती—मैं कह दूँगी कि मैं उनके पास नहीं रहना चाहती।

सन्तलाल—तेरे कहने से क्या होगा। तेरे भाग्य में यही लिखा था, तो किसका बस है। मैं जाता हूँ बड़े पंच के पास।

रेवती—नहीं मामाजी, तुम कहीं न जाव। जब भाग्य ही का भरोसा है, तो जो कुछ भाग्य में लिखा होगा वह होगा।

रात तो रेवती ने घर में काटी। बार-बार निद्रा-मग्न भाई को गले लगाती। यह अनाथ अकेला कैसे रहेगा, यह सोचकर उसका मन कातर हो जाता; पर झाबरमल की सूरत याद करके उसका संकल्प दृढ़ हो जाता।

प्रातःकाल रेवती गंगास्नान करने गई। यह इधर कई महीनों से उसका नित्य का नियम था। आज जरा अन्धेरा था; पर यह कोई सन्देह की बात न थी। सन्देह तब हुआ जब ८ बज गये और वह लौटकर न आई। तीसरे पहर सारी बिरादरी में खबर फैल गई—सेठ रामनाथ की कन्या गंगा में डूब गई। उसकी लाश पाई गई।

कुबेरदास ने कहा—चलो अच्छा हुआ, बिरादरी की बदनामी तो न होगी।

झाबरमल ने दुखी मन से कहा—मेरे लिये अब कोई और उपाय कीजिये।

उधर मोहन सिर पीट-पीटकर रो रहा था और बुढ़िया उसे गोद में लिए समझा रही थी—बेटा, उस देवी के लिये क्यों रोते हो। जिन्दगी में उसके दुख-ही-दुख था। अब वह अपनी माँ की गोद में आराम कर रही है।